हिन्दी साहित्य के प्रारंभिक इतिहास-ग्रन्थ और इतिहासलेखन की समस्याएँ

(विशेष सन्दर्भ: इस्त्वार द ला लितेरात्यूर ऐन्दुई ऐ ऐन्दुस्तानी, शिवसिंह सरोज, द माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान, मिश्रबंधु-विनोद)

"HINDI SAAHITYA KE PRARAMBHIK ITIHAAS-GRANTH OR ITIHAASLEKHAN KI SAMASYAAEIN"

(VISHESH SANDARBH: ISTWAR D` LA LITERATURE ENDUI ENDUSTAANI, SHIVSINGH SAROJ, THE MODERN VERNACULAR LITERATURE OF HINDUSTAAN, MISHRBANDHU-VINOD)

"EARLY HISTORY'S TEXT OF HINDI LITERATURE AND PROBLEM OF HISTORIOGRAPHY"

पीएच.डी. (हिन्दी) उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध

शोध-निर्देशक
प्रो. देवेन्द्र कुमार चौबे

सह-शोध निर्देशक
प्रो. नामवरसिंह

शोधार्थी
कविता

भारतीय भाषा केंद्र
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय
नई दिल्ली – 110067

2017

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
भारतीय भाषा केन्द्र
Centre of Indian Languages
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
School of Language, Literature & Culture Studies
नई दिल्ली–110067, भारत NEW DELHI-110067, INDIA

Date: 21/07/2017

DECLARATION

I hereby declare that the research work done in this Ph.D. thesis entitled "Hindi Saahitya ke Prarambhik Itihaas-Granth or Itihaaslekhan Ki Samasyaaein" (Vishesh Sandarbh: Istwar D` La Literature Endui Endustaani, Shivsingh Saroj, the Modern Vernacular Literature of Hindustaan, Mishrbandhu-Vinod) Early History's text of Hindi Literature and Problem of Historiography by me is the original research work and it has not been previously submitted for any other degree in this or any other University/Institution.

Kavita

Kavita
(Research Scholar)

Prof. Devendra Kumar Choubey
(Supervisor)
CIL/SLL&CS/JNU

Prof. Namwar Singh
(Co-Supervisor)
CIL/SLL&CS/JNU

Prof. Gobind Prasad
(Chairperson)
CIL/SLL&CS/JNU

GRAM: JAYENU, Tel.: (91-011) 26741557, 26742676 Extn.: 4217, (D) 26704217; Telefax: (91-011) 26704217
Email: chair_cil@mail.jnu.ac.in, jnucil@gmail.com

समर्पण

नानाजी जी (स्व० जगत नारायण शुक्ल)

के लिय,

उनके नाती डॉ० बने यह उनका स्वप्न था ,

जो अधूरा ही रह गया!

लेकिन अपनी नतिनी के नाम के आगे डॉ० लगा देखकर

उनको उस से कम प्रसन्नता नहीं होती,

जितनी मेरे वास्तव में डॉ० बनने से !

अनुक्रमणिका

भूमिका i-vi

अध्याय 1: साहित्येतिहास लेखन : अवधारणा, समस्या और सम्भावना 1-42

1.1. इतिहास की अवधारणा और उसके प्रमुख आधार

1.2. आधुनिक अर्थों में भारत में इतिहास लेखन का आरम्भ

1.3. साहित्य का इतिहास : अवधारणा, समस्या और संभावना

अध्याय 2: हिंदी साहित्येतिहास लेखन की परंपरा: प्रस्थान का क्रम 43-78

2.1. हिन्दुई साहित्य का इतिहास

2.2. शिवसिंह सरोज

2.3. तासी और शिवसिंह के ग्रंथों की तुलना

अध्याय 3: द माडर्न वेर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ नॉर्दन हिन्दुस्तान और इतिहास लेखन की समस्या 79-119

3.1. हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास:ग्रियर्सन की इतिहास दृष्टि के कोण से

3.2. ग्रियर्सन की भाषा- नीति

अध्याय 4:मिश्रबंधु विनोद और इतिहास लेखन की समस्या 120-151

4.1. मिश्रबंधुओं की भाषा नीति

4.2. मिश्रबंधु विनोद :औपनिवेशिक आधुनिकता देशज परंपरा

अध्याय 5 :प्रस्तावित ग्रंथों का तुलनात्मक अध्ययन 152-184

5.1. प्रस्तावित ग्रंथों के लेखकों की भाषा नीति

5.2. प्रस्तावित इतिहास ग्रंथों के लेखकों की इतिहास दृष्टि

5.3. हिन्दी साहित्य का नया इतिहास : एक विवेचन

उपसंहार 185-192

परिशिष्ट 193-200

एक : आधार ग्रन्थ

दो : सहायक-ग्रन्थ-सूची

तीन : सहायक-ग्रन्थ ; अंग्रेजी

चार : पत्र-पत्रिकाएँ

पाँच : वेबसाईट और ब्लॉग

भूमिका

इतिहास मानव चेतना का स्थायी तथा अनिवार्य पहलू है। मनुष्य मात्र अपने इतिहास का ही निर्माण नहीं करता वरन वह इतिहासबोध का निर्धारण भी करता है। मानव समाज के इसी इतिहासबोध का अध्ययन करना तथा काल की निरंतरता के क्रम में होने वाले परिवर्तनों को पहचानना ही इतिहास लेखन का मुख्य उद्देश्य है। इतिहास मात्र अतीतजीवी ऐतिहासिक संदर्भ नहीं है बल्कि वह जीवित समकालीन संदर्भ भी है।

किसी भाषा के इतिहास लेखन की उपयोगिता अनिवार्य रूप से पाठ्यक्रम में अध्ययन व अध्यापन से जुड़ी होती है। एक विद्यार्थी के तौर पर जब से हिन्दी साहित्य के इतिहासलेखन का अध्ययन करना प्रारंभ किया था, मेरी रूचि इस विषय में बढ़ती ही गई। साहित्य के इतिहास में कालक्रम, नामकरण, प्रवृत्ति निरूपण के विमर्शों ने इतिहास लेखन की पद्धति के सिद्धांत के सम्बन्ध में रूचि को और बढ़ाया।

अपनी तमाम सीमाओं और सम्भावनाओं के साथ प्रत्येक इतिहास-ग्रन्थ एक युग विशेष का प्रतिबिम्ब ही होता है। भारत में जिस युग में इतिहास लेखन प्रारंभ होता है, उस युग में इतिहास केवल विश्वविद्यालयी प्रक्रिया में अध्ययन-अध्यापन की वस्तु न होकर, और कोई जड़ वस्तु भी न होकर एक जीवन्त, सजीव वस्तु था। पूरे युग में उसे अनुभव किया जा रहा था। यही कारण है कि इस युग के साहित्येतिहास-लेखन की जटिलताओं और अंतर्विरोधों से जिरह की आवश्यकता है। 'आत्म' और 'अन्य' के अस्तित्व के रेखांकन के प्रति वर्तमान पर्याप्त सचेत और सक्रिय है। इसलिए यह आवश्यकता ऐतिहासिकता के साथ-साथ उसकी समकालीन आवश्यकता भी है।

इतिहास लेखन की समस्याओं के आधार पर इन ग्रंथों की भी सचेतन पड़ताल की जाएगी कि कैसे इस समय दो अलग-अलग इतिहास विकसित हुए जिसका उद्देश्य संवाद की जगह दो पृथक-पृथक मुहावरों में वर्चस्व व प्रतिरोध के सक्रिय थे। इस पूरी प्रक्रिया में ऐतिहासिक कर्ताओं की स्वतंत्रता एवं उनकी निजता बनी रहे। इसका ध्यान रखना जरूरी है। आज के वैचारिक प्रत्ययों के आधार पर उन्हें नायक या खलयानक घोषित करना उचित नहीं। समावेशन और अपवर्जन की श्रेणियों के बिंदु हमें इतिहास के इसी दौर में प्राप्त होते हैं। अध्यायों को पृथक पृथक लघु निबन्धों के रूप में विकसित करने की कोशिश की गई है। अध्यायों की रूपरेखा निम्नवत है-

पहला अध्याय- साहित्येतिहास लेखन : अवधारणा, समस्या और सम्भावना

इस अध्याय में इतिहास की अवधारणा पर बात की गई है। इतिहासलेखन की विभिन्न प्रणालियों को बताते हुए इतिहास और साहित्येतिहास की संकल्पना का सर्वेक्षण किया गया है। साहित्येतिहास के बुनियादी कारकों की पहचान करते हुए साहित्येतिहास की समस्याओं को रेखांकित करने का प्रयास है। साथ ही साहित्येतिहास लेखन की आवश्यकता, उसकी विविध प्रविधियों और संभावनाओं पर विचार किया गया है।

दूसरा अध्याय- हिंदी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा : प्रस्थान का क्रम

इस अध्याय में हिंदी साहित्येतिहास लेखन की विधिवत शुरुआत, जो कि तासी के ग्रन्थ से मानी जाती है से बात प्रारम्भ की गयी है। जिसमें उनके फ्रेंच वैदुष्य, भाषा विज्ञान और और प्राच्यवादी दृष्टि को साहित्येतिहास लेखन की समस्याओं के सन्दर्भ में जांचने का प्रयास है। इसी अध्याय में शिवसिंह सरोज के इतिहास-ग्रन्थ का भी सर्वेक्षण किया गया है। शिवसिंह के ग्रन्थ को 'अन्य' की अस्मिता को परिभाषित करने के प्रथम प्रयास के सन्दर्भ में विश्लेषित किया गया है। इस अध्याय में इतिहास लेखन की परम्परा की शुरुआत में इन लेखकों के महत्व को साहित्येतिहास लेखन के दृष्टिकोण से रेखांकित किया गया है।

तीसरा अध्याय - द माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ नॉर्दन हिन्दुस्तान और इतिहास लेखन की समस्या

इस अध्याय में जार्ज ग्रियर्सन की पुस्तक का हिन्दी अनुवाद- 'हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास' की इतिहास दृष्टि का सर्वेक्षण है। मुख्य रूप से ग्रियर्सन की प्राच्यवादी मानसिकता की पड़ताल की गई है। लेखक का इतिहास ग्रन्थ विधेयवादी पद्धति पर केंद्रित है। इस दृष्टि से इतिहास लेखन की समस्याओं को केन्द्र में रख कर समीक्षा करना उचित समझा है। इसके साथ ही उनके भाषा : सर्वेक्षण सम्बन्धी ज्ञान को भी परखने का प्रयास है।

चौथा अध्याय – मिश्रबंधु विनोद और इतिहास लेखन की समस्या

यह अध्याय मिश्रबंधु विनोद पर केंद्रित है। इसमें मिश्रबंधुओं की साहित्येतिहास की अवधारणा को निरुपित करने का प्रयत्न किया गया है। इस अध्याय में मिश्रबंधुओं के इतिहास के सन्दर्भ में मानसिक उलझाव को सांस्कृतिक पुनरुत्थानवाद एवं प्राच्यवादी दृष्टिकोण से विचार किया गया है। मिश्रबंधुओं ने हिंदी में एक तरह से तुलनात्मक आलोचना की परिपाटी की शुरुआत की है उनके इस प्रयत्न का भी विश्लेषण किया गया है।

पांचवा अध्याय- प्रस्तावित ग्रंथों का तुलनात्मक अध्ययन

यह अध्याय प्रस्तावित इतिहास-ग्रंथों के रचनाकारों की इतिहास-दृष्टि के तुलनात्मक अध्ययन पर आधारित होगा। जिसमें रचनाकारों की इतिहास सम्बन्धी धारणा, पद्धति एवं उनकी भाषा सम्बन्धी दृष्टि के आधार पर उनकी तुलना का प्रयास है। साहित्येतिहास लेखन के विविध दृष्टिकोण (विचारधारा, दर्शन और राजनीति) के आधार पर साहित्यकारों द्वारा समावेशन और अपवर्जन के बिंदुओं की तलाश की है। इस अध्याय में साहित्येतिहास-लेखन के सामने मौजूद समकालीन चुनौतियों के सन्दर्भ में इन ग्रथों की उपादेयता को निर्धारित किया गया है। साथ ही साहित्येतिहास का नया दृष्टिकोण कैसा होना चाहिए इस पर भी विचार है।

अतः इस शोध–प्रबंध का उद्देश्य हिंदी के प्रारंभिक इतिहास-लेखन के वास्तविक स्वरूप को रेखांकित करना है। इसमें चयनित इतिहासकारों के इतिहास-विवेक को स्पष्ट किया गया है। समकालीन सवालों और चुनौतियों के सन्दर्भ में हिंदी साहित्येतिहास लेखन की शुरूआती परम्परा का पुनर्मूल्यांकन वस्तुनिष्ठ आधार पर करने की कोशिश है।

एम. ए. के दौरान प्रो. नामवर सिंह से कई बार इतिहास लेखन पर व्याख्यान को सुना और उनकी रचनाओं में साहित्येतिहास पर लेख पढ़े तो हमेशा से इतिहासलेखन के संदर्भ में उनसे बात करने की इच्छा रही। जब गुरुवर ने मुझे शोधछात्रा के रूप में स्वीकार किया तब उनसे अपने आकुल प्रश्नों पर बात करने का मौका मिला। शोध-ग्रन्थ लिखने के क्रम में विषय पर उनसे बात होती रही। लघु शोध प्रबंध में निर्मल वर्मा के साहित्य पर कार्य किया था। उनके विचारों में इतिहास को लेकर बड़ा संदेह है। इस

सन्दर्भ में 'साहित्येतिहास की समस्याओं' पर पहले भी प्रो.नामवर सिंह से अक्सर बात होती रहती थी। साहित्येतिहास-लेखन का नया दृष्टिकोण कैसा होना चाहिए इस विषय को समझने में उन्होंने मेरी सहायता की। गुरुवर एक व्यक्ति ही नहीं संस्थान हैं जिनके प्रभाव में आकर मेरी लेखन दृष्टि का विकास हुआ।

इन सब का परिणाम यह हुआ कि मैने शोध निर्देशक प्रो. रामबक्ष से विषय निर्धारण के लिए साहित्येतिहास लेखन पर कार्य करने का आग्रह किया। प्रो. रामबक्ष ने मेरी समस्या को तुरंत ही सुलझा दिया उन्होंने ही ग्रंथों के निर्धारण में मुझे दिशानिर्देशित किया। उनके लिए कुछ भी कहना छोटा मुँह बड़ी बात है। वे हमारे लिए शोध निर्देशक ही नहीं, यहाँ घर से दूर रहने वाले विद्यार्थियों के लिए अभिभावक भी हैं।

इस क्रम में शोध ग्रंथों की समीक्षा में कौन-कौन सी पद्धति अपनानी चाहिए इसका दिशा निर्देश उन्होंने ही किया। शोध के विषय निर्धारण से लेकर इसके मुक्कमल होने तक उन्होंने सतत मेरी गलतियों को सुधारा। जिससे विषय को आदि से अंत तक निभा पाने में मैं सक्षम हो सकी। सर का सरल स्वभाव ही है जो मेरी गलतियों के बावजूद वे मुझ पर कृपा बनाए रखे। अपने स्वभाव के अनुसार भाषा सम्बन्धी सरलता को बरतने के लिए हमेशा ही मुझे आगाह किया।

इस शोध-प्रबंध को पूर्ण करवाने में प्रो. रामबक्ष की मैं विशेष आभारी हूँ। प्रो. रामबक्ष अध्ययन-अध्यापन के साथ-साथ जिरह की प्रक्रिया को अधिक महत्व देते हैं। वे सच्चे अर्थों में शिक्षक हैं। वे पढ़ाने के साथ-साथ जीवन और साहित्य का संबंध समझाते हैं। एक तटस्थ दृष्टि के विकास में उन्होंने मेरी बहुत सहायता की। प्रो० रामबक्ष ने सीखने की इस प्रक्रिया में लगातार अपने सुझावों से आत्मबल प्रदान किया। शोध-प्रक्रिया की जटिल संरचना को सहज और सरल उन्होंने ही बनाया इसके लिए आभार! शोध के लिए आवश्यक एक लोकतांत्रिक वातावरण प्रदान करने के लिए उनके प्रति आभार।

साहित्य के इतिहासलेखन की समस्याओं पर मेरी रूचि को जगाने का श्रेय प्रो० देवेन्द्र कु. चौबे को जाता है। एम. ए. से ही वे हमें साहित्य का इतिहास पढ़ाते रहे हैं। इतिहास के एक सतत अनुसंधानकर्ता के रूप में उन्होंने हमें भी सक्रिय किया। वर्तमान

संदर्भ में साहित्य के इतिहास की समस्याओं पर वे स्वयं सक्रिय रूप से कार्यरत हैं। उनकी अनेक पुस्तकें भी प्रकाशित हो चुकी हैं इस विषय पर। वर्तमान संदर्भों में साहित्येतिहास लेखन की दशा और दिशा कैसी होनी चाहिए, इस विषय को समझने में उन्होंने पर्याप्त सहायता की। प्रो. रामबक्ष की सेवानिवृत्ति के बाद यह शोध-कार्य प्रो. देवेन्द्र कुमार चौबे के निर्देशन में जमा हो रहा है।

एम० ए० प्रथम वर्ष की छात्रा के रूप में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में जब आगमन हुआ संवाद और जिरह जैसे सरल किन्तु असाधारण मुहावरों से प्रथम परिचय यहीं हुआ और इन वैचारिक प्रत्ययों का अभ्यास आज भी जारी है। व्यक्ति तथा समाज निर्माण में एक अकादमिक संस्थान एवं उसके सांस्कृतिक परिवेश का कितना अधिक योगदान होता है यह यहाँ आकर ही मालूम हुआ। जे० एन० यू० की इस अनोखी सृजन और चिन्तन शक्ति देखकर सहसा ही विनोद कुमार शुक्ल की पंक्तियाँ याद आ जाती हैं-

"जाते जाते कुछ भी नहीं बचेगा जब

तब सब कुछ पीछे बचा रहेगा

और कुछ भी नहीं में

सब कुछ होना बचा रहेगा"

अभिषेक शुक्ल, सिमी, छाया, निशांत, चितरंजन, अभिषेक कुंदन, जैसे सहपाठियों और मित्रों ने जीवन को जीवंत बनाए रखा इनके प्रति क्या लिखूं? आभार, धन्यवाद या अपना अधिकार.....!

प्रस्तुत लघु शोध-प्रबंध में यथासंभव प्राथमिक स्रोतों का ही उपयोग किया गया है। इस शोध-कार्य के दौरान जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, विकासशील समाज अध्ययनपीठ (सी० एस० डी० एस०), साहित्य अकादमी तथा दिल्ली पब्लिक लाइब्रेरी, हिन्दुस्तानी एकेडमी इलाहाबाद, के पुस्तकालयों से शोध-कार्य संबंधित सामग्रियाँ प्राप्त होती रहीं। इन पुस्तकालयों के अधिकारियों और कर्मचारियों के प्रति मैं आभार व्यक्त करती हूँ जिन्होंने शोध-कार्य में लगातार सहयोग बनाए रखा।

धवल के सुझाओं और डांट की कमी खल रही है। उससे सीखने की जिज्ञासा आज भी है। दुर्लभ किताब से लेकर अमूल्य सलाह तक मेरी आशा की पहली और अंतिम किरण एस. पी. साब(धवल) ही रहे। आखिर उसके पुस्तकालय की अध्यक्ष मैं ही तो हूँ। प्रज्ञा ने पूरे ग्रन्थ को फॉर्मेट करके और ग्रन्थ में आए हुए उद्धरणों को उच्चरित करके छोटे भाई चंद्रकांत (छोटू) ने मुझे टाइप करने में सहायता दी। प्रज्ञा और चंद्रकांत ने शोध-प्रबंध को पूरा करने में सर्वाधिक सहायता की।

मम्मी-पापा, दीदी, छोटे भाई-बहन- लल्ला, मुन्नू , ने शोध-कार्य की वैसी ही चिंता की जैसी वे मेरे लिए करते हैं। पर ये मेरा आलस्य ही था जो बिना 9ब लिए मैंने शोध पूरा ही नहीं किया। इसमें जे. एन. यू. जैसे संस्थान की ही बड़ी भूमिका है जो हमें धैर्य और अनुशासन सिखाता है।

संवाद की प्रक्रिया को निभाने की पूरी कोशिश की गई है .....शायद बात बन पड़ी हो!

दिनांक
20/07/2017

कविता
भारतीय भाषा केन्द्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली -67

पहला अध्याय

साहित्येतिहास लेखन : अवधारणा, समस्या और संभावना

पहला अध्याय

साहित्येतिहास लेखन : अवधारणा, समस्या और संभावना

'इतिहासलेखन इतिहास चिंतन का इतिहास है/ इतिहासलेखन ऐतिहासिक लेखन में विकास क्रम की कथा कहता है/ इतिहास लेखन से सम्बंधित बदलते विचारों, तकनीकों तथा स्वयं इतिहास के प्रति बदलते हुए दृष्टिकोण भी इसमें शामिल हो गए हैं/ अंततः यह मनुष्य के अतीत-बोध के विकास का अध्ययन है/''[1]

- आर्थर मार्विक

1.1. इतिहास की आवश्यकता एवं उसके प्रमुख आधार :

इतिहास मानव चेतना का स्थायी तथा अनिवार्य पहलू है। मनुष्य मात्र अपने इतिहास का ही नहीं इतिहास विधायक दृष्टिकोण का भी निर्माण करता है। मानव समाज के इसी इतिहासबोध का अध्ययन करना तथा काल की निरंतरता के क्रम में होने वाले परिवर्तनों को पहचानना ही इतिहासलेखन का मुख्य उद्देश्य है। अतः इतिहास मानव और समाजों के अतीत के कार्यों की आवश्यक स्मृति भी है।

इतिहास की आवश्यकता के दो महत्वपूर्ण पक्ष हैं। पहला यह कि वह समाज की स्वयं को जानने और अपने अतीत तथा अन्य समाज और संस्कृतियों से अपने सम्बन्ध को समझने की आवश्यकता की पूर्ति करता है। दूसरा साहित्यिक अर्थों में क्योंकि प्रायः सभी मनुष्यों में अतीत के प्रति जिज्ञासा और आचरण का सहज भाव होता है। किसी भी समाज का इतिहासलेखन तभी प्रारंभ होता है जब अपने इतिहास के निर्माण की ओर उसका ध्यान जाता है।

इतिहास लेखन एक सतत चलने वाली प्रक्रिया है। समय स्वयं अपना इतिहास लिखता है क्योंकि हर काल अपने अतीत की प्रासंगिकता के विषय में भिन्न मूल्यांकन करता है और अतीत को अपने पूर्वाग्रहों और अपने मुख्य प्रयोजन की दृष्टि से देखने

का प्रयास करता है। संभवतः इसीलिए ई. एच. कार. ने लिखा है — 'इतिहास वर्तमान और अतीत के बीच संवाद है।'[2]

इतिहास एक मानसिक सृष्टि भी है। इतिहासकार जिस अतीत का अध्ययन करता है व जिसे ऐतिहासिक सन्दर्भ के रूप में प्रस्तुत करता है वह वस्तुतः इतिहासकार की स्वनिर्मित रचना होती है। इस कल्पित निर्मिती का आधार इतिहासकार द्वारा चयनित विवेच्य कृतियाँ ही होती हैं। जिसकी तथ्यात्मकता एवं उपियोगिता दोनों पर ही प्रायः प्रश्नचिन्ह लगाए जाते रहें हैं। सारी तथ्यपरकता के बावजूद तथ्यों की प्रस्तुति में 'इतिहास' भी एक आख्यान ही ठहरता है।

इतिहासलेखन की सम्पूर्ण उत्प्रेरणा लेखक के इतिहासदर्शन से होती है और यह इतिहासदर्शन लेखन के समय प्रचलित विश्वासों के अनुसार बदलता रहता है। विभिन्न पीढ़ियों को उपलब्ध पद्धतियों और स्रोतों के अनुसार भी इतिहास का रूप और कथ्य बदलता रहता है। हर पीढ़ी के ऐतिहासिक-बोध में अंतर से परम्परा और उसके निरूपण के मूल्यों में अंतर आ जाता है। इतिहास की हर व्याख्या हर मूल्यांकन कालक्रम से स्वयं उस इतिहास के अंग बन जाते हैं। इतिहास की अनेक अंतर्धाराओं में से हर युग अपने लिए एक प्रासंगिक धारा का अन्वेषण करता है। अतः किसी भी इतिहासकार में समसामयिक-चेतना होनी आवश्यक है। वर्तमान का सम्यक बोध होने से ही अतीत का बोध आता है। जो इतिहासकार अपने समय-बोध से अनभिज्ञ होगा वह अन्य समय-कालों को जानने में भी असमर्थ होगा। भारत की सम्पूर्ण चिंतन परम्परा को समसामयिक रूप में ग्रहण कर के रसास्वादन किया जाता था। जबकि आधुनिक इतिहासबोध में समसामयिकता अतीत से विच्छिन्न हो गई है।

इतिहास वास्तव में मानव की स्मृतिगाथा है इसीलिए जो भी ऐतिहासिक रचनाओं को पढ़ते या लिखते हैं, वह यह समझने का प्रयास भी करते हैं कि यह स्मृति किस प्रकार से कार्य करती है। उदाहरण के लिए यदि आप किसी एक व्यक्ति के जीवन को ही देखें तो उसकी स्मृति अर्थात किसी अन्य की सहायता के बिना प्राप्त उसका प्रत्यक्ष

ज्ञान उसके जीवन में जो कुछ हुआ होता है वहीं तक सीमित होता है। ऐसी स्मृति से बाहर निकला जा सकता है। जब किसी समुदाय या जाति द्वारा अपनी स्मृतियों को संरक्षित करने का सायास प्रयास होता है तब इतिहास मौखिक या लिखित विवरणों का आकार ग्रहण करता जाता है। इस क्रम में इतिहास अतीत का स्मरण करने, उसे समझने और इस ज्ञान को अन्य लोगों तक पहुँचाने का प्रयास हो जाता है। मौखिक या लिखित ऐतिहासिक वर्णन पीढ़ियों या व्यक्तियों की स्मृति की सीमाओं का विस्तार करते हैं लेकिन जब हमें इन सीमाओं के बाहर घटित चीजों के बारे में बताया जाता है तो हमारे सामने बहुत से प्रश्न खड़े हो जाते हैं। इतिहास की किसी ख़ास व्याख्या की संरचना की पद्धति क्या है? जो हुआ उसका कोई एक वर्णन दूसरे वर्णन की तुलना में कैसा है? अतीत के बारे में ज्ञान के स्रोत क्या हैं? और सत्य तक कैसे पहुंचा गया है? क्या अंतिम सत्य तक पहुंचना संभव है? विभिन्न सांस्कृतिक परिवेशों में इतिहास की पद्धतियों में क्या फर्क है और यह पद्धति प्राचीन काल से आधुनिक समय से कैसे बदली है? ऐसे सवालों के जवाब देना ही इतिहास लेखन के मूल विषयवस्तु है।

विभिन्न विद्वानों ने इतिहासलेखन की पद्धति पर विचार करते हुए उसमें कुछ पहलुओं को निर्धारित किया है। **काल-विभाजन, नामकरण एवं प्रवृत्ति-निरूपण** इतिहासलेखन के अनिवार्य पहलू हैं इसके अलावा **चयन, व्याख्या, श्रेणीकरण एवं पुनर्निर्माण के सहारे सामान्यीकरण** से इतिहासलेखन की प्रक्रिया संभव होती है।

सामान्यीकरण इतिहासलेखन का सबसे अनिवार्य पहलु है। सामान्यतः सामान्यीकरण तथ्यों के बीच का संबंध या संपर्क है, यह किसी भी प्रकार की व्याख्या या कार्य-कारण या प्रभाव या असर बनाने के लिए किए गये प्रयासों का परिणाम है। सामान्यीकरण अस्पष्ट एवं असंबद्ध तर्कों का काल और दिक् में आपस में जुड़ना है। यह उनका तार्किक वर्गीकरण, उनका समूह है।

दूसरे शब्दों में कहा जाए तो सामान्यीकरण इतिहासकार के लिए वह साधन है जिसके माध्यम से वह अपनी सामग्री को समझते हैं और अपने तथ्यों से दूसरे लोगों को अवगत कराते हैं। इतिहास में घटती हर घटना का विश्लेषण, व्याख्या अक्सर सामान्यीकरण की सहायता से ही होता है। जब हम तथ्यों या आकड़ों या प्रक्रियाओं को वर्गीकृत करते हैं और उनकी तुलना या मिलान करते हैं या उनके बीच की समानताओं और विषमताओं की खोज करते हैं और उन पर आधारित निष्कर्ष निकालते हैं। यह पूरी प्रक्रिया प्राथमिक रूप से सामान्यीकरण कहलाती है। इस तरह हम सामान्यीकरण तब करते हैं जब हम अपने तथ्यों को एक के बाद एक क्रम में श्रेणीबद्ध करते जाते हैं। उदाहरण के लिए जब हम किसी लेखक की जाति या धर्म की बात करते हैं तब हम सामान्यीकरण कर रहे होते हैं। उसकी जाति उसके व्यक्तित्व का महत्वपूर्ण हिस्सा है और इसीलिए उसके साहित्यिक कार्यों का भी, यहाँ तक कि उसके आयु का उल्लेख करना भी सामान्यीकरण है। अधिक विस्तृत रूप में देखें तो सामान्यीकरण तब होता है जब हम तथ्यों को समझने या आकड़ों, वस्तुओं, घटनाओं और अतीत के दस्तावेजों के बीच किन्हीं अवधारणाओं की सहायता से संबंध स्थापित करते हैं और उन्हें दूसरों तक संप्रेषित करते हैं।

इतिहासकार कितना भी चाह ले सामान्यीकरण से बच नहीं सकता। जब इतिहासकार यह सोचता है कि वह ऐसा नहीं कर रह है तब भी वह सामान्यीकरण कर रहा होता है। सब यही करते हैं और इसका इस्तेमाल करते हैं। वस्तुतः सामान्यीकरण तथ्यों के अनुक्रम में ही निहित होता है। इतिहासकार के लिए सामान्यीकरण को आवश्यक बताते हुए ई. एच. कार. लिखते है-" वैज्ञानिक की तरह इतिहासकार भी इसके लिए बाध्य होता है कि वह अपने उत्तरों की बहुविधता का सामान्यीकरण करे, एक उत्तर को दूसरे के अधीन कर के देखे और घटनाओं तथा शिष्ट कारणों के घटाटोप में एक आंतरिक समरूपता तथा व्यवस्था की खोज करे।"[3] एक मान्यता है कि 'इतिहासकार को अतीत की जानकारियाँ एकत्रित करनी चाहिए और उन्हें तिथिवार क्रम में संजोना चाहिए। इससे या तो अतीत का अर्थ उभरता है या स्वयं को प्रकट करता है।' दूसरे शब्दों में इतिहासकार का काम जानकारियों की

प्रमाणिकता की जांच करना और उनकी सत्यता को प्रमाणित करना है न कि उनकी व्याख्या करना अर्थात उनका सामान्यीकरण करना। इसके विपरीत दृष्टिकोण यह है कि स्रोत अपने आप में कोई अर्थ प्रकट नहीं करते और टिप्पणियों का संग्रह भी, भले ही कितनी ही सावधानी से उसे एकत्र किया गया हो, इतिहासकार को यह नहीं बता पाते कि उसे क्या लिखना है। सामग्री को किन्हीं तार्किक सिद्धांतों अर्थात चयन के महत्व और प्रासंगिकता के कुछ सिद्धांतों के आधार पर संयोजित करना होता है। यहाँ तक कि तथ्यों के बारे में लिखी गई टिप्पणियों में भी चयन का कोई सिद्धांत होना चाहिए । अन्यथा इतिहासकार जरूरी तथ्यों में डूब जायेगा।

इतिहासलेखन में **चयन** एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया होती है, चयन इसलिए आवश्यक है क्योंकि तथ्य बहुत सारे होते हैं। इसीलिए हर इतिहासकार चयन करता है। चयन के भी कुछ सिद्धांत होते हैं। दूसरी ओर एकत्रित तथ्यों को क्रमवार और समूहबद्ध करना होता है। इन दोनों बातों के लिए स्पष्टीकरण, कार्य-कारण, उत्प्रेरण एवं प्रभाव आवश्यक होते हैं। दूसरे तरह कहें तो विषय के रूप में इतिहास का आधार विश्लेषण है। वास्तव में सीमित अर्थ को छोड़कर तथ्य तभी तथ्य बनते हैं जब उनका सामान्यीकरण होता है।

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि सामान्यीकरण हमें रास्ता दिखाता है। वह हमें यह बताता है कि तथ्य जैसे दिख रहे हैं वैसे नहीं हैं। इन तथ्यों का जैसा समकालीन लेखकों ने उपयोग किया है या बाद के लेखकों ने जिस प्रकार उसकी व्याख्या की है वह वैसे नहीं हैं। सामान्यीकरण हमें संदेह प्रकट करने की शक्ति प्रदान करता है। वह पुराने तथ्यों को नवीन दृष्टि से देखने की समझ देता है, वह पुष्टिकरण, खंडन, आगे विकास और विद्यमान विचारों के लिए नए विचार और विषय सामने लाता है।

सामान्यीकरण इतिहासकारों में स्वस्थ्य वाद-विवाद को जन्म देता है, नहीं तो एक दूसरे के कार्य के बारे में उनकी प्रतिक्रिया केवल उनकी तथ्यात्मक गलतियाँ दर्शाना भर रह जाता। सामान्यीकरण इतिहासकारों को बहस एवं विमर्शों के लिए मुद्दे रखने और उन पर लाभदायक चर्चाओं की प्रक्रिया प्रारंभ करने को प्रेरित करता है। कुछ

लोग किसी अन्य इतिहासकार के काम में प्रस्तुत किए गए सामान्यीकरणों से सहमत होकर उसमें नए शोध और विचार की संभावनाएं देखते हैं। दूसरे लोग असहमत होते हैं और जिस भी घटना की चर्चा हो रही है उसकी एक नयी और अलग ही व्याख्या की तलाश करते हैं और अपनी विचारधारा को प्रमाणित करने के लिए विभिन्न प्रमाण खोजते हैं। इस तरह सामान्यीकरण उनके समर्थन या विरोध में नए प्रमाणों की खोज को बढ़ावा देते हैं। सामान्यीकरण शोधार्थी को उन सब पर प्रतिक्रिया करने की शक्ति भी देता है जो वह पढ़ता है। वह ऐसा तभी कर सकता है जब वह पढ़ते-पढ़ते सामान्यीकरण कर रहा हो।

सामान्यीकरण की सबसे बड़ी आवश्यकता इतिहास के विद्यार्थियों के लिए है। एक प्रकार से वह विद्यार्थी को उसके विषय को समझने में सहायता प्रदान करती है। एक प्रकार से वह विद्यार्थी में विश्लेषण की एक वैज्ञानिक पद्धति भी विकसित करती है। जब विद्यार्थी कोई लेख लिखता है या कोई किताब या शोधकार्य कर रहा होता है तब यह प्रक्रिया उसे बहुत सहायता प्रदान करती है। वह उसे किसी पुस्तक से नोट्स या लेख बनाने की शक्ति प्रदान करती है। और यह जरूरी भी है कि इतिहास के विद्यार्थी के लेख या शोधकार्य में सामान्यीकरण की एक क्रमबद्धता होनी चाहिए। वह किसी भी रूप में हो सकती है। प्रश्नों के रूप में या वक्तव्यों के रूप में। सामान्यीकरण विद्यार्थी को यह क्षमता प्रदान करती है कि वह यह भलि-भांति जान ले कि कौन से नोट्स उसके शोध की विषयवस्तु के लिए प्रासंगिक या महत्वपूर्ण हैं। हम किसी सेमीनार में प्रस्तुत किए गए शोध-पत्र की चर्चा कर सकते हैं। यदि उसमें कोई सामान्यीकरण नहीं है तो वह जिरह का कोई आधार नहीं तैयार कर सकता। बहस में शामिल ज्यादा से ज्यादा उस शोधपत्र में प्रस्तुत तथ्यों को नकार सकते हैं या उसमें कुछ जोड़ सकते हैं । सामान्यीकरण की प्रक्रिया न अपनाने से इतिहास बहुत ही उबाऊ सा लगने लगता है। पाठक के पास उन पर विचार करने के लिए कुछ नहीं होता।

इतिहासलेखन का सबसे अनिवार्य पहलु रहा है **कार्य-कारण** संबंध। दरअसल इतिहासलेखन एक वैज्ञानिक प्रक्रिया का अंग है और वैज्ञानिक प्रक्रिया में कार्य-कारण

श्रृंखला एक अनिवार्य भूमिका अपनाती है। हर वैज्ञानिक जिज्ञासा क्यों के साथ शुरू होती है। जैसे सूरज पूर्व से क्यों उगता है? आकाश नीला क्यों दिखाई देता है? भूकंप क्यों आते हैं? तेल पानी पर क्यों तैरता है? वैज्ञानिक और औद्योगित क्रांति पहले यूरोपीय देशों में क्यों हुई? एशियाई देशो में क्यों नहीं? भारत उपनिवेश क्यों बना? इत्यादि। किसी न किसी रूप में सभी विषयों में क्यों प्रश्न पूछा जाता है और इतिहास में भी यह होना वाजिब है। जब इतिहासकार अतीत का अध्ययन कर रहे होते हैं तब भी वे यह समझने का प्रयत्न करते हैं कि कोई विशेष घटना क्यों घटी और क्यों नहीं घटी। उदाहरण के लिए मुग़ल साम्राज्य का पतन क्यों हुआ? पहला विश्व-युद्ध क्यों हुआ? 1947 अगस्त में ब्रिटिशों ने भारत को सत्ता का हस्तान्तरण क्यों किया? इस तरह इतिहास का लेखन क्यों प्रश्न से आरम्भ होता है। इस प्रकार इतिहासकार किसी विशेष घटना के होने की व्याख्या करता है। वह उन आयामों पर ध्यान केंद्रित करता है जो किसी घटना से विशेषकर जुड़े हों और एक ऐसा विवरण प्रस्तुत करता है जो यह दर्शाता है कि कोई घटना जिस समय घटी तब वह क्यों घटी।

कार्य-कारण को स्पष्ट करने के लिए बाहरी स्थितियां होती हैं जो भौतिक जगत में काम करती हैं और कारण का प्रभाव के साथ सतत संबंध होता है। इसकी तुलना में तर्क आंतरिक रूप से जुड़े होते हैं तथा तर्कों और कार्यों का संबंध तार्किक होता है। उदहारण के लिए जब हम यह समझाते हैं कि 'क' ने 'ख' की हत्या प्रतिशोध के लिए की तो हम उद्देश्य यानी तर्क और कार्य यानी हत्या के बीच एक आंतरिक संबंध देखते हैं। हम यह भी मान लेते हैं कि हत्या का कारण प्रतिशोध मानने के लिए हमें पहले के कारण दूसरे के होने के बारे में अधिक तर्क देने की जरुरत नहीं पड़ती। जबकि यह दिखने के लिए कि उस अमुक व्यक्ति ने हत्या की और उसका अमुक उद्देश्य हो सकता था उद्देश्य और कार्य के बीच के संबंध को किसी बाह्य पुष्टि की आवश्यकता नहीं है। निश्चय ही कोई भी कार्य किसी निश्चित उद्देश्य को लेकर होता है। और यह उद्देश्य यह मानने के लिए अच्छा तर्क है कि उसने यह कार्य किया होगा।

कार्य-कारण विश्लेषण की पद्धति उद्देश्यपरक होती है। यहाँ जिस इच्छित अंतिम अवस्था को किसी कार्य से प्राप्त करना होता है, वही उद्देश्य या कारण भी होती है। इसीलिए यह तार्किक रूप से कार्यवाही के पूर्व होता है। दूसरी ओर कार्य-कारण संबंध में प्रभाव कारण के बाद आता है। अर्थात वह कारण पारिस्थिति के बाद आता है और कुछ सम्बद्ध परिस्थितियों की वजह से इसका अनुसरण करता है। इतिहासकार कारण विश्लेषण देते हुए उन परिस्थितियों के समूह की पहचान करते हैं जो संयुक्त रूप से वांछित प्रभाव उत्पन्न करते हैं। इस सामूहिकता के भीतर वह किसी एक ऐसी परिस्थिति की पहचान करते हैं जिसने निर्णायक प्रभाव डाला हो। ऐसे विश्लेषण तर्क पर आधारित विश्लेषणों से और प्रत्यक्षवादियों द्वारा प्रयुक्त विधि प्रतिदर्शों से भी भिन्न होते हैं। इसके आलावा जैसा कि पहले कहा गया है, ये व्याख्याएं हमें यह बताती हैं कि कोई विशेष घटना किसी विशेष समय में ही क्यों घटी। दूसरे शब्दों में यह ऐकिक कारणात्मक वक्तव्य है जो भावी घटनाओं की भविष्यवाणी नहीं करते बल्कि उनकी व्याख्या करने की चेष्टा करते हैं। इन विश्लेषणों में अनुमानों की सापेक्ष अनदेखी इन्हें न तो कमजोर बनाती है और न ही अपर्याप्त। दिए गये विश्लेषण अपने में पूर्ण होते हैं और उनके सत्य पर इतिहासकारों का समुदाय उपलब्ध प्रमाणों और दस्तावेजों के आधार पर बहस कर सकता है।

ऐतिहासिक विश्लेषण में कारणों की खोज महत्वपूर्ण है। यह कारण वह विशेष घटनाएं नहीं हैं जो किसी अन्य ऐसी घटनाओं के पहले घटी हों जिनके कारण पहले वाली घटना में पाए जाते हैं इसके विपरीत कारण परिस्थितियों के उस समूह के तौर पर देखे जाते हैं जिनके तहत विशेष घटनाएं घटती हैं। यह परिस्थितियाँ किसी विशेष घटना के होने के आवश्यक और पर्याप्त आधार मुहैया कराती हैं। फिर भी प्राकृतिक विज्ञानों से भिन्न इतिहास के कारणों की खोज प्रयोगशाला में नहीं की जा सकती जबकि इतिहासकार किसी घटना के होने के समय उन परिस्थितियों की तलाश करते हैं जो उस समय उपस्थित या अनुपस्थित थीं। इन सबके अलावा कारण किसी प्रक्रिया के होने को समझाता है, उसकी भविष्यवाणी नहीं करता। इतिहास में व्याख्या के साथ ही मूल्यों के आधार पर विश्लेषण संबद्ध होता है। इतिहासलेखन में कार्य-कारण

के महत्व को रेखांकित करते हुए मैनिक महान के शब्दों में-" इतिहास में कार्य-कारण संबंधों की खोज मूल्यों के सन्दर्भ के बिना असंभव है ....कारणों की खोज के पीछे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से मूल्यों की खोज जरूरी होती है।"[4]

इतिहासलेखन में **वस्तुपरकता** का सिद्धांत तीसरा सबसे महत्वपूर्ण बिंदु है। पश्चिम में वस्तुपरकता इतिहासलेखन की परम्परा का आधारभूत सिद्धांत रहा है। हेरोडोटस के समय से ही इतिहासकारों ने लेखक और विषय के विभाजन और ज्ञाता तथा ज्ञात के बीच भेद और अतीत को दोबारा लौटाने की संभावना को माना। वस्तुपरकता सिद्धांत के आलोचक पीटर नोविक माने जाते हैं। उनका मानना था कि इतिहासकार को निष्पक्ष होना चाहिए और किसी का भी पक्ष नहीं लेना चाहिए। उसे अपनी व्यक्तिगत धारणाओं को छोड़कर केवल प्रमाणों की सत्यता पर विश्वास करना चाहिए।

वास्तव में वस्तुपरकता के सिद्धांत ने पश्चिमी दुनिया में इतिहास लेखन के लिए आधार तैयार किया है। मानवीय व्यक्तिपरकता के परे भी अतीत का एक संसार होता है, इसकी पूर्ति करने के प्रयासों को प्रेरित किया, आरम्भिक उन्नीसवीं शताब्दी में जर्मन इतिहासकार विल्हेम रानके ने इस प्रयास को मजबूती प्रदान की। इतिहासकारों की कई पीढ़ियों ने रानके का अनुसरण किया और वस्तुपरकतावादी तथा अनुभववादी इतिहास की रचना की। इतिहास के क्षेत्र में इस परंपरा को आज भी बड़े पैमाने पर स्वीकारा जा रहा है। हालाँकि इस परंपरा के कई आलोचक भी रहे हैं । मुख्य रूप से जो परेशानी रही है वह इतिहासकारों की विचारधारा एवं उनके सांस्कृतिक पूर्वाग्रहों को लेकर हुई है। इसके अलावा इसने इस बात पर भी बल दिया कि स्रोतों के भी पूर्वाग्रहग्रस्त होने के कारण अतीत के यथार्थ को पुनः लाना असंभव होता था। एक अन्य आलोचना के अनुसार संसार के बारे में हमारा ज्ञान पूरी तरह से भाषा के माध्यम से होता है जिसमें इतिहासकार या अन्य लोग बात करते हैं और लिखते हैं। इस प्रकार भाषा-भाषाई चित्रण के परे कोई संसार नहीं होता। इसीलिए किसी भी तरह की वस्तुपरकता को प्राप्त करना असम्भव है। यह आलोचनाएं कभी-कभी इतिहासलेखन के ही आधार पर संदेह करती हैं। फिर भी अधिकतर अनुभवी

इतिहासकार पूर्ण वस्तुपरकता और कुछ आलोचकों द्वारा इसके पूर्ण खंडन के दावों के बीच के रास्ते पर चलते हैं।

इतिहासलेखन में विचारधारा का भी महत्वपूर्ण स्थान है। विचारधारा दृष्टिकोणों, धारणाओं और विचारों की एक व्यवस्था होती है। यह सामाजिक आर्थिक संरचना को समाज और मानव जीवन की सैद्धांतिक समझ या सांस्कृतिक अभिरुचि और स्वीकृत मानदंडों के सन्दर्भ में वैधता प्रदान करती है। अनिवार्यतः वैचारिक दृष्टिकोण का दायरा मानवीय सामाजिक मूल्यांकनों और आर्थिक संबधों, नैतिक मानदंडों, धार्मिक आस्था, सौन्दर्यपरक मूल्यांकन, दार्शनिक विचारों तथा राजनीतिक निर्णयों से सम्बद्ध उनकी अभिरुचियों में व्यापक रूप से फैला हुआ है। कुछ यथार्थपूर्ण स्थितियों के लिए पुष्टिकरण के प्रश्न को केवल प्रोत्साहन के रूप में नहीं लिया जाना चाहिए। विचारधारा उस सामाजिक व्यवस्था के समर्थन से जुड़ी हो सकती है जिसे यथार्थ में उभारना बाकी हो। बेशक, किसी बड़े सामाजिक परिवर्तन के लिए कोई भी आदर्शवादी आकांक्षा एक उपयुक्त वैचारिक दबाव को केन्द्र बना सकती है। तब वह विचारधारा रूढ़िवादी या अतिवादी या उन विपरीत प्रवृत्तियों का सम्मिश्रण भी हो सकती है। इस तरह इतिहास एक ही समाज में विभिन्न विरोधी विचारधाराओं के उदाहरणों से भरा पड़ा है जिसमें से कुछ यथास्थिति को ही बचाने में लगी रहती हैं और अन्य स्थितियों की प्रचलित व्यवस्था को बदल कर सुधार या एक क्रांतिकारी सामाजिक परिवर्तन लाने तक का प्रयास करती हैं । मुख्य बात यह है कि विचारधाराएं इतिहास की सूक्ष्मदृष्टि अपने में रखती भी हैं और उन्हें बनाए भी रखती हैं तथा इतिहास को समझने के लिए जरूरी प्रवणता भी पैदा करती हैं।

संभवतः विचारधारा शब्द सबसे पहले फ़्रांस में तर्कवादी दार्शनिकों ने उस चीज के लिए प्रयोग किया था जिसे उस समय मानव-मस्तिष्क के दर्शनशास्त्र की तरह समझा जाता था। अंग्रेजी प्रयोग में विचारधारा का अर्थ विचारों के विज्ञान से था। वैज्ञानिक सामाजिक विचारों के विश्लेषण पर दिए गए जोर ने प्रबोधन के दर्शन को बढ़ावा देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इन दर्शनों का 1789 की फ़्रांसिसी क्रांति में काफी

अधिक योगदान था। इस क्रांति को लोकप्रिय संप्रभुता प्राप्त करने में अनेक मुश्किलों का सामना करना पड़ा।

'विचारधारा' शब्द का सबसे पहले प्रयोग करने वाले चिन्तक ट्रेसी फ्रेंच इनलाईटमेंट के समय में हुए। इनकी पुस्तकक है 'Element Of Identity' जो 1815 में प्रकाश में आई। इसे लिखने में ट्रेसी को 14 वर्षों का समय लगा। जिसका कई यूरोपीय भाषाओं में अनुवाद हुआ। ट्रेसी के विचारों ने पुनर्जागरण के सभी यूरोपीय चिंतकों को प्रभावित किया। इटली, स्पेन, रूस में इनका प्रभाव व्यापक रूप से पड़ा। मनुष्य के सारे चिंतन का एक विकासक्रम है, विकासात्मक चरण है। प्रबोधन युग में विचारधारा पनपी। हमारी मानसिक दुनिया विचारधारा पर आश्रित है। पूरे सामाजिक तंत्र को समझना ही विचारधारा है। हम जिस समझ के साथ जीते हैं वही विचारधारा है। जीवन जीने के क्रम में ही हम अपने अनुभवों से ही सीखते हैं।

विचारधारा सबसे पहले धर्म के विरुद्ध खड़ी हुई। ट्रेसी ने कहा कि 'धर्म एक ऐसा व्यवस्थित दर्शन है जो हमारे सभी प्रश्नों का उत्तर देता है'। प्राचीन व्यवस्था में धर्म का बहुत आतंक था। पुनर्जागरणकाल में धर्म के विरोध में एक प्रकार का आंदोलन चला। ट्रेसी ने जब धर्म के साथ विचारधारा का तालमेल बैठाया तभी विचारधारा विकसित हुई। फ़्रांस के प्रबोधन युग का मूलमंत्र था न्यायप्रिय एवं खुशहाल समाज का निर्माण। यह आंदोलन सामंतवाद के विरुद्ध जनतंत्र का आंदोलन था।

यूरोप में पुनर्जागरण एक व्यापक प्रक्रिया थी। इस समय औद्योगिक क्रांति, नए नए आविष्कारों के माध्यम से समाज के मूल ढ़ांचे में आधारभूत परिवर्तन की शुरुआत हुई। अंधविश्वास के स्थान पर तर्क एवं वैज्ञानिकता विचारों के केन्द्र में आ गई। फलस्वरूप धर्म पर प्रश्नचिन्ह लगाया जाने लगा। ट्रेसी ने कहा कि ईश्वर है और उसी ने सृष्टि की रचना की है। परन्तु सृष्टि को चलाना मनुष्य का काम है। इसलिए ईश्वर पर आश्रित नहीं होना चाहिए इसीलिए विचारधारा को ईश्वर विरोधी माना गया। ट्रेसी ने कहा कि विचारधारा विचारों का विज्ञान है। यह जूलॉजी का हिस्सा है। इनका मानना था कि ज्ञान का प्राथमिक आधार इन्द्रियबोध है। संवेदना से ही विचार

प्राप्त होता है। इसीलिए जो इन्द्रियों से परे है उसका कोई अस्तित्व नहीं है। हमारे conscious mind के चार भाग होते हैं-बोध, स्मृति, निर्णय और इच्छा। ये शारीरिक अनुभव हैं इंद्रिय नहीं, जो इन्द्रियों से परे है वह कुछ भी नहीं है।

विचारों का विज्ञान भी 'observation' पर आधारित है। तर्क ही मनुष्य की प्रसन्नता का कारण है। मनुष्य को खुश रखने के लिए कारण का होना आवश्यक है। इसीलिए अनुभवों से भावनाएं फिर विचार पैदा होता है। अतः विचारधारा मशीनी कार्यवाही है। उन्होंने कहा समाज में राजा ईश्वर का प्रतिनिधि नहीं होता है वह हमारी सहमति से ही राजा बना है। इस तरह ट्रेसी ने समाज की संरचना के आधार पर प्रहार किया। उन्होंने कहा कि आत्मा ईश्वर का अंश नहीं है, वह जैविक है। इस कारण शारीरिक विकास के साथ हमारी मानसिक भावनाओं का भी विकास होता है। यह एक जैविक प्रक्रिया है जिससे उम्र के साथ-साथ हमारी भावनाओं में भी परिवर्तन आता है। शारीरिक विकास मात्र प्रकृति प्रदत्त है। उसका विकास किसी धर्म पर आश्रित नहीं है, वह जैविक विकास है। इस प्रकार ट्रेसी ने धर्म का खंडन किया। उन्होंने कहा कि हमारी नाड़ियों से इन्द्रियबोध होता है। सबसे पहले बोध, अनुभव, स्मृति फिर निर्णय से हम में इच्छा जागृत होती है। मनुष्य का सारा जीवन बोध से शुरू होकर कार्य पर खत्म होता है।

पुनर्जागरण का प्रमुख लक्षण विश्व तथा मानव की सत्ता के बारे में वैज्ञानिक खोज की भावना से प्रेरित होकर तर्कपूर्ण चिंतन का दृष्टिकोण था। ट्रेसी की विचारधारा भी इसी भावना से अनुप्राणित थी। ट्रेसी के विचारों को अनुभववाद भी कहा जा सकता था। जिसकी तीन संघटना है। किसी भी संघटना को मानवीय निरीक्षण से समझा जा सकता है। इसीलिए ट्रेसी ने कहा कि जिसको हम समझ ही नहीं सकते वह है ही नहीं। आगे होने वाली भविष्य की घटनाओं के बारे में हम इसी निरीक्षण द्वारा अवगत होते हैं। यह अनुभव निरिक्षण पर आधारित होता है। यह संसार भी प्रकृति के माध्यम से चलता है, यह एक मशीनी प्रक्रिया है। एक व्यवस्था है इसीलिए हम इसे भी जान सकते हैं। यही अनुभववाद है, इसीलिए ट्रेसी ने शिक्षा को भी विचारधारा के लिए

बहुत जरूरी समझा। उन्होंने कहा कि विचारधारा विचार के निर्माण के लिए आवश्यक है।

1757 में ट्रेसी ने आधुनिक शिक्षा प्रणाली शुरू करने के लिए लिखा। हर युग की एक विचारधारा होती है। इसका प्रारंभिक इतिहास विज्ञान पर आधारित है। बिना विचारधारा समाज नहीं हो सकता इसलिए मानवीय इन्द्रियों को प्रशिक्षित करना आवश्यक है। जो शिक्षा के माध्यम से संभव है। इस प्रकार विचारधारा का सामाजिक सरोकार मार्क्सवाद में अति विस्तृत रूप में विकसित हुआ।

विचारधारा के दूसरे प्रयोग का अर्थ नकारात्मक है। यहाँ इसका अर्थ गलत पर्यवेक्षणों और निष्कर्षों से उपजे विभ्रम से है। यह वही अर्थ है जिसके आधार पर नेपोलियन ने लोकप्रिय संप्रभुता की विचारधाराओं की आलोचना की थी। इस आलोचना में अर्थपूर्ण अनुभव पर आधारित ज्ञान और विचारधारा में भेद किया गया था। अपने आरंभिक लेखन में हीगल के आदर्शवाद के कथ्य और पद्धति की आलोचना करते हुए मार्क्स और ऐंगल्स ने विचारधारा शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग किया।

हीगल को उलट देने से अनेक प्रकार की अनिश्चितताएं और बेतुके निष्कर्ष सामने आने लगे। मार्क्स और ऐंगल्स ने सुधारवादी हीगलवादियों के रूप में शुरुआत की। यह उनके अपनी पिछली दार्शनिक चेतना से दो-चार होने के प्रयास को स्पष्ट करता है। हीगलवादी आदर्शवाद से उनके अलग होने की पुष्टि करते हुए जर्मन आइडियोलॉजी. ऐतिहासिक विकास का पहला मार्क्सवादी वक्तव्य उन विभिन्न चरणों के माध्यम से प्रस्तुत करती है जो उत्पादक शक्तियों और उत्पादक संबंधों के बंधन पर निर्भर करते हैं। वास्तव में अवलोकन का ध्यान विचारों से हटकर मानवीय संवेदनात्मक कार्यवाही पर केंद्रित हो जाता है। मार्क्स के लेखन में हम विचारधारा शब्द का प्रयोग बहुत कम पाते हैं। निस्संदेह इस प्रकार की प्रमुख पुस्तकें हैं 'गुंद्रीस', 'राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना में योगदान', 'कैपिटल'।

तर्क एवं वैज्ञानिक निष्कर्षों के आधार पर काल मार्क्स ने एक सम्पूर्ण भौतिकवादी दर्शन की नींव रखी। मार्क्स के पूर्व भी भौतिकतावादी दार्शनिकों की एक पूरी परंपरा

रही है, परन्तु पूर्व परंपरा के इन भौतिकतावादियों के यहाँ सृष्टि विकास और मानवीय संस्कृति के इतिहास की कोई मुकम्मल व्याख्या नहीं मिलती। मार्क्स ने दुनिया को नए ढांचे में ढ़ालने, शोषण का खात्मा करने तथा वर्गविहीन समाज की ओर बढ़ने के लिए अपने सिद्धांत का उपयोग किया।

मार्क्स ने समस्त मानवीय इतिहास की भौतिकतावादी व्याख्या की। इस हेतु उन्होंने उत्पाद को समाज की सर्वप्रमुख व्याख्या माना है। और इसी कारण मानवीय सभ्यता के इतिहास की प्रक्रिया को उत्पादन के तरीकों में हुए परिवर्तनों और विकास के आधार पर समझाने का प्रयास किया। इसी को काल मार्क्स द्वारा प्रवर्तित 'इतिहास की आर्थिक व्याख्या का सिद्धांत' कहा जाता है। उत्पादनों के इन्हीं साधनों में हुए परिवर्तन के आधार पर मार्क्स ने इतिहास को चार बड़े युग में विभाजित किया।

उन्होंने बताया कि आदिम-काल से दासता का युग, सामंतवाद का युग और बुर्जुआ युग ऐतिहासिक प्रक्रिया के कारण क्रमशः विकसित होते गए। मार्क्स ने उत्पादन के साधन, उत्पादन के संबंध, पूँजी, संपत्ति आदि का व्यापक विश्लेषण करते हुए अपनी उक्त धारणा की पुष्टि की। पूँजी की रचना मार्क्स की सही मायनों में समतामूलक समाज का स्वप्नपूर्ण उपक्रम थी। मार्क्स के अपने शब्दों में 'पूँजी बुर्जुआ जनों तथा भू-स्वामियों के सिरों पर पहले कभी भी दागे गये गोलों में से सबसे भयंकर गोला थी।'

मार्क्स वर्ग-विहीन समाज चाहते थे। इसीलिए उन्होंने कहा कि अब तक का मानव-इतिहास वर्ग-संघर्षों का इतिहास है। जिस वर्ग का समाज में भौतिक प्रभुत्व होता है, उसी वर्ग का बौद्धिक प्रभुत्व भी है और बौद्धिक ताकत भी भौतिक (material) ताकत में ही व्यक्त होती है। जो प्रभुत्वशाली वर्ग होता है, वह जो विचार (idea) करता है- दोनों उस प्रभुत्वशाली वर्ग का ही पोषण करती है। हर युग में इसीलिए जो विचारधारात्मक संघर्ष होते हैं, वह वर्ग संघर्ष ही होते हैं। वर्ग-संघर्ष का सबंध वर्ग से है और वर्ग का संबंध उत्पादन से है। उनके मतानुसार अपने इस दर्शन के द्वारा ही एक

वर्ग विहीन समाज का निर्माण संभव है। इस विचार को प्रतिपादित करने के लिए ही उन्होंने समाज की आर्थिक प्रक्रिया को आधार बनाया। अपने मत के विभिन्न घटकों का आधार इस आर्थिक पक्ष को ही ठहराया।

मार्क्सवाद में मनुष्य की यह वास्तविक स्वतंत्रता ज्ञान से ही संभव है। ऐसे में मनुष्य के विकास में सुधार बहुत जरूरी है। ताकत के बल पर दुनिया में राज नहीं किया जा सकता। बिना क्रांतिकारी विचारधारा के कोई भी क्रांति संभव नहीं है। और वर्ग-चेतना लिए हुए जो विचारधारा होती है, वही सभी समाज में घटित हो सकती है।

वर्ग चेतना सामाजिक परिवर्तन के मार्क्स के सिद्धांत का महत्वपूर्ण तत्व है। प्रसिद्द मार्क्सवादी विचारक एवं आन्दोलनकर्ता जार्ज लुकाच ने सौंदर्यशास्त्र और साहित्यिक आलोचना से लेकर, समाजशास्त्र और राजनीति जैसे विषयों के विशाल दायरे में अपना महत्वपूर्ण लेखकीय योगदान किया है। उनकी पुस्तक 'हिस्ट्री एण्ड क्लास कॉन्शियसनेस' उन दिनों के साम्यवादी संस्थानों में खासी विवादास्पद रही।

लुई अल्थ्यूसर की मार्क्सवाद की व्याख्या उनकी 'रीडिंग कैपिटल' और 'फॉर मार्क्स' में उपलब्ध है। इनमें परिपक्व मार्क्स और उसके राजनीतिक, आर्थिक और विचारधारात्मक और सैद्धांतिक संरचना एवं व्यवहार के आपस में जुड़े युग्मों के ढांचे पर ध्यान केंद्रित किया गया है, जो अपनी सम्पूर्णता में सामाजिक शक्तियों और उनकी गतिविधियों को निर्धारित कर सकते हैं। अल्थ्यूसर अर्थव्यवस्था एवं राजनीतिक व्यवस्था के आलावा विचारधारा को संरचित सामाजिक बनावटों की तरह इतिहास की मुख्य घटनाओं में शामिल करते हैं। तब विचारधारा मनुष्य द्वारा समाज में जिए गये संबंधों का अर्थ होती है।

अंतोनियो ग्राम्शी की वर्चस्व की सत्ता की संकल्पना केवल दमन पर निर्भर नहीं करती, बल्कि शासितों से प्राप्त स्वीकृति से भी निर्देशित होती है, जो विचारधारा को नए अर्थ प्रदान कर सकती है। ग्राम्शी ऐतिहासिक तौर पर जनता से जुड़ी सजीव विचारधाराओं और उच्छृंखल विचारधाराओं में अंतर करते हैं। जिस हद तक विचारधाराएं ऐतिहासिक तौर पर आवश्यक होती हैं वह मनुष्यों को संगठित करती

हैं जिस पर मनुष्य चलते हैं और अपनी हैसियत एवं संघर्षों की चेतना प्राप्त करते हैं। सजीव विचारधाराओं की इतिहास की प्रक्रिया पर काफी हद तक प्रभाव डालने की 'मनोवैज्ञानिक' वैधता होती है।

विचारधाराएं अक्सर बीसवीं शताब्दी के दौरान सामाजिक राजनीतिक सिद्धांतों और उनकी योजनाओं से अलग कर के नहीं देखी जा सकती। किसी ऐसे मानव समाज की कल्पना नहीं की जा सकती जिसके पास कोई विचारधारा ही न हो और जो अपने लक्ष्यों और उपलब्धियों के बारे में किन्हीं आलोचनात्मक प्रश्नों से मुक्त हों। यही इतिहास का रास्ता और उसकी दृष्टि विचारधाराओं के उत्थान और पतन में लगातार शामिल रहेंगी। सारांश रूप में विचारधारा शब्द का अक्सर दो तरह से प्रयोग होता है। एक अर्थ में यह विचारों, दृष्टिकोणों और आस्थाओं का समूह होता है जो किसी व्यक्ति या सामाजिक व्यवस्था को संचालित करता है। इसका प्रयोग यथास्थिति को बनाए रखने के लिए किया जा सकता है लेकिन इसका उपयोग किसी व्यवस्था के विरोध के लिए भी किया जा सकता है। किसी सामाजिक व्यवस्था में कई विचारधाराएं हो सकती हैं जो कई बार एक दूसरे की विरोधी हों। यह वर्गों के अनुसार भी बदल सकती हैं। इतिहास में विभिन्न सामाजिक, आर्थिक, और राजनीतिक व्यवस्थाएं किन्हीं वर्चस्व वाली विचारधाराओं द्वारा घोषित रही है।

एक अन्य अर्थ में विचारधारा की व्याख्या विश्व के वास्तविक और वैज्ञानिक ज्ञान की तुलना में मिथ्या चेतना के तौर पर भी की जा सकती है। इस अर्थ में इसका प्रयोग लोगों को भ्रम में रखने और यथास्थिति का समर्थन करने के लिए उन्हें प्रभावित करने में होता है।

1.2. आधुनिक अर्थों में भारत में इतिहासलेखन का आरम्भ

अट्ठारहवीं सदी के भारत में इतिहास लेखन का एक व्यवस्थित प्रयास प्रारम्भ होता है। जिसमें प्राचीन भारत के इतिहास निर्माण की प्रक्रिया में भारत की साहित्यिक

रचनाओं और विदेशी यात्रियों के विवरण बहुत सहायक सिद्ध हुए। प्राचीन भारत की जानकारी के यह स्रोत भारत में इतिहासलेखन की एक अस्पष्ट परंपरा को दर्शाते हैं।

1784 में कलकत्ता में 'रॉयल एशियाटिक सोसायटी' की स्थापना प्राचीन भारत के इतिहासलेखन के लिए सबसे महत्वपूर्ण कदम साबित हुई। 'रॉयल एशियाटिक सोसायटी' की स्थापना ब्रिटिश साम्राज्यवादी रणनीति के एक अंग के रूप में भी देखी जा सकती थी। एक मजबूत प्रशासन की नींव डालने के लिए नागरिक सेवा में शामिल ब्रिटिश अफसरों के लिए भारतीय समाज और संस्कृति को जानना आवश्यक था। ऐसी प्रशासनिक सेवा की धारणा का जन्म हो रहा था जिसे भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों का उचित ज्ञान हो। 1772 में जब वारेन हेस्टिंग भारत का गवर्नर जनरल बन कर आया तब कलकत्ता भारत की राजधानी के रूप में विकासशील शहर था। वारेन हेस्टिंग ने भारत में सुदृढ़ प्रशासन के लिए यहाँ के सांस्कृतिक ज्ञान को एक माध्यम के रूप में देखा। उसने अपने प्राच्यवादी मानसिकता को भारत की प्राचीन संस्कृति की समझ बनाने में पूरी तरह लगा दिया। ज्ञान का संबंध मात्र जिज्ञासा से ही नहीं है। अपितु उस शक्ति से भी होता है जिसका उद्देश्य राजनीतिक और आर्थिक लक्ष्यों को प्राप्त करना होता है। वे भारतवासियों को उनके अतीत से अवगत तो करा रहे थे पर अपनी दृष्टि से। उसकी सोच की ही अगली कड़ी के रूप में रॉयल एशियाटिक सोसायटी को देखा जा सकता है।

सोसायटी के प्रथम अध्यक्ष विलियम जोन्स थे जिनका प्राथमिक लक्ष्य भारत के अतीत के बारे में अधिक से अधिक तथ्य एवं प्रमाण एकत्र किए जाए। उन्होंने कला, इतिहास, तुलनात्मक भाषा-शास्त्र, शब्द की उत्पत्ति जैसे विषयों पर बौद्धिक अन्वेषण के महत्व को रेखांकित किया। सोसायटी के काम करने का तरीका यह था कि विभिन्न विषयों पर शोध करके शोध-पत्र तैयार किए जाते थे और जब सोसायटी की बैठक होती थी तो उनमें यह शोध-पत्र प्रस्तुत होते थे। इस प्रकार की बैठक साप्ताहिक अंतराल पर हुआ करती थीं। इसके माध्यम से भारत की संस्कृति और इतिहास के अन्वेषण में बहुत महत्वपूर्ण तथ्य और प्रमाण सामने आए। इस क्रम में 1789 में

सोसायटी के द्वारा ही एशियाटिक रिसर्चेज के नाम की एक शोध पत्रिका भी निकलने लगी। इसके लिए अभिलेखों को खोजना और उन्हें पढ़ने का प्रयास, प्राचीन सिक्कों का संग्रह और संस्कृत ग्रंथों के आधार पर प्राचीन साम्राज्यों का कालनिर्धारण व राजाओं का कालक्रम निश्चित करने के प्रयास किए गए। इस दौर में भारतीय अतीत के निर्माण की दृष्टि से इतिहास लेखन और अन्वेषण की आधुनिक पद्धति के आभाव में प्रायः संस्कृत ग्रंथों पर अधिक निर्भरता दिखाई गयी। जैसे कि विलियम जोन्स ने जब पहली बार भारतीय इतिहास का काल विभाजन किया तब उन्होंने हिंदू धर्म-ग्रंथों का ही अधिक सहारा लिया। इस सन्दर्भ में इतिहासकार रोमिला थापर लिखती हैं-"जब यूरोपीय विद्वानों का अट्ठारहवी सदी में पहली बार भारत से संबंध स्थापित हुआ और वे भारत के अतीत के बारे में जानने के लिए उत्सुक हुए तब ब्राह्मण, पुरोहितों का वर्ग ही उनकी सूचनाओं का स्रोत बना। यही लोग प्राचीन परम्पराओं के संरक्षक थे और इनका दावा था कि संस्कृत स्रोतों में संकलित ज्ञान से केवल वही परिचित हैं। इसीलिए इस समय प्राचीन भारत का अधिकांश हिस्सा इन्हीं संस्कृत स्रोतों के आधार पर निर्मित हुआ। अर्थात उस सामग्री के आधार पर जो प्राचीन हिंदू शास्त्रों और संस्कृत भाषा में संकलित थी। इनमें अधिकांश स्रोत अपने अंतर्वस्तु की दृष्टि से धार्मिक प्रकृति के थे, इसीलिए इन्होंने स्वभावतः प्राचीन अतीत की व्याख्या को भी प्रभावित किया।"[5]

इतिहास लेखन की पौराणिक और मिथकीय चेतना पर आधारित इस प्रणाली में बदलाव आना तब शुरू हुआ जब भिन्न-भिन्न भाषाओं में लिखे गए इतिहास, अभिलेखों, पुरानी मुद्राओं, ताम्रपत्रों और प्राचीन स्मारकों आदि को इतिहास की शोध सामग्री के रूप में इस्तेमाल करने की शुरुआत हुई। इससे भारत के वस्तुगत इतिहास के विविध पहलु प्रकाश में आए। इतिहास से संबंधित विभिन्न खोजें भारत के प्राचीन साहित्य, कला और संस्कृति से पश्चिम को भी अवगत करा रही थीं। इतिहासलेखन के सदर्भ में ई. एच. कार लिखते हैं-" नई खोजें और नए दृष्टिकोण इतिहास को आगे बढाने की प्रक्रिया में पैदा होते रहते हैं। इतिहासकार स्वयं भी इस

प्रक्रिया से प्रभावित होता है। इतिहास को लिखने वाला स्वयं इतिहासलेखन के विकास की प्रक्रिया का अंग होता है वही दौर इतिहास संबंधी उसकी चेतना और विजन को निर्मित करने का काम करता है।"[6]

सामाजिक एवं ऐतिहासिक रूप से उन्नीसवीं सदी का हिन्दुस्तान में विशेष महत्व है। औपनिवेशिक भारत में इतिहास पहली बार बौद्धिकों के चिंतन और अनुभव का ध्रुव बन गया। जिसने एक जटिल वैचारिक और बौद्धिक परिदृश्य का निर्माण किया। जिसमें मूल्य निर्णय की अपेक्षा यथार्थ का उद्घाटन ज्यादा दिखाई देता है। इस समय उपनिवेश-विरोधी चेतना, आधुनिक राष्ट्र के उदभव, जातीय उत्थान एवं भाषा संबंधी एक विशेष समझ की संभावनाओं को अधिक व्यापक और गहराई से खोजा जाने लगा। राष्ट्र निर्माण प्रक्रिया में एक सांस्कृतिक पहचान निर्मित करने एवं भारतीय सभ्यता की प्राचीनता निर्धारित करने के लिए इतिहास पर शोध करने और उपलब्ध जानकारियों का अपने पक्ष में प्रयोग करने के प्रयास विस्तृत रूप में दिखाई देते हैं। इस अतीत राग से एक तरफ़ राष्ट्रीयता का आधार दृढ़ हो रहा था, तो दूसरी तरफ कुछ अलगाववादी परिस्थितियाँ भी निर्मित हो रहीं थीं।

इतिहास लेखन को अट्ठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में आधुनिक अकादमिक विषय के रूप में मान्यता प्राप्त होना प्रारंभ हुआ। भारत में इस कार्य का आरम्भ यूरोपीय विद्वानों द्वारा किया गया। भारत के धर्म, संस्कृति और समुदाय के इतिहास पर शोध करने का जो कार्य आरम्भ हुआ उसमें एक तरफ राजनीतिक और सामाजिक परिस्थियों के बदलाव के कारण इतिहासलेखन की आवश्यकता महसूस की गई तो दूसरी तरफ इतिहास निर्माण और उसकी व्याख्या के विभिन्न दृष्टिकोणों के माध्यम से विभिन्न जातियों की राजनीतिक- सामाजिक आशाओं को नया रूप मिलना शुरू हुआ। इस प्रकार इन दो सदियों में प्राचीन भारत के इतिहास के निर्माण और व्याख्या का कार्य विस्तृत रूप से आरम्भ हुआ। इस काम को अधिक संस्थागत और व्यवस्थित रूप से रायल एशियाटिक सोसायटी के द्वारा ही प्रारंभ किया गया।

उन्नीसवीं सदी में ही जेम्स मिल की हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इंडिया, कर्नल टाड की एनल्स एण्ड एंटीक्विटीज ऑफ राजस्थान, इलियट डाउसन की हिस्ट्री ऑफ इंडिया ऐज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियंस जैसी महत्वपूर्ण कृतियों की रचना हुई। इन रचनाओं ने प्राचीन भारत के बारे में दृष्टिकोण को व्यापक पैमाने पर प्रभावित किया। मिल ने पूरे भारतीय इतिहास को हिंदू काल, मुस्लिम काल, ब्रिटिश काल में विभाजित कर के इतिहास की साम्प्रदायिक व्याख्या का आधार तैयार किया। उसके अध्ययन की विषयवस्तु एवं निष्कर्ष सभ्यता के विकास और उपयोगितावाद से जुड़े हुए सामान्य धारणाओं पर आधारित थे न कि प्रामाणित तथ्यों पर। इसी क्रम में आगे मैक्समूलर, अलब्रेख्त वेबर, रुडोल्फ राय और विंटरनित्ज जैसे प्राच्यवादियों ने पश्चिम के लिए भारत की एक छवि निर्मित करने का प्रयास जारी रखा। इतिहास की व्याख्या और उसकी निर्मिति में मिशनरियों, प्राच्यविदों एवं मिल जैसे उपयोगितावादितों ने अलग-अलग प्रकार से भारत की रूढ़िवादी छवि की बनाने में योगदान दिया।

ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के अंतर्गत उन्नीसवीं सदी में भारत बदलाव की जिन बहुमुखी स्थितियों से गुजर रहा था, उसने एक विशेष प्रकार की परिस्थितियों का निर्माण किया। संक्रमण का यह काल पाश्चात्य जगत के अनुभवों एवं भारतीय सांस्कृतिक समझ के द्वंद्वात्मक समुच्चय से निर्मित था। वस्तुतः जिसे हिंदी साहित्य के इतिहास में हिंदी नवजागरण की संज्ञा दी जाती हैं वह ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया से उपजा अंतर्विरोधों का काल था, जब भाषाई एकता, राष्ट्रीयता, जातीयता संस्कृति आदि को लेकर भारत में इतिहास के बारे में एक नई चेतना का विकास हुआ। जिसका प्रतिफलन सशक्त साहित्यिक नवजागरण के रूप में होता है। नवजागरण की जो चेतना बंगाल में शुरू होती है, वह हिंदी क्षेत्र में अपने नए रूप में दिखाई देती है। इस समय युक्त प्रान्त में " हिंदू मुश्लिम अलगाव को बढ़ाने वाली वस्तुगत परिस्थितियाँ उसी तरह मौजूद थीं जिस तरह उनकी साझी संस्कृति और राष्ट्रीयता को मजबूत करने वाली परिस्थितियाँ मौजूद थीं।"[7] हिंदी नवजागरण अलगाव को

बढ़ाने वाली वस्तुगत परिस्थितियों से चेतना ग्रहण करता है। जिससे समाज सुधार का स्वरूप हिंदी प्रदेश में हिंदू पुनरुत्थानवाद, भद्रवार्गीय हितों में संघर्ष तथा धार्मिक ध्रुवीकरण के रूप में प्रकट होता है। इसके बावजूद इसे मानने में कोई परहेज नहीं होना चाहिए कि नवजागरण ने एक ऐसी आधुनिक संस्कृति गढ़ने की कोशिश की, जो पाश्चात्य संस्कृति से भिन्न हो। राष्ट्रवाद की आरम्भिक अभिव्यक्ति 19वीं अंतिम वर्षों में ही विकसित हो पाई और इस चेतना के विकास ने ही नवजागरण को अंतर्विरोधों से जकड़ लिया।

ईसाई मिशनरियों द्वारा धर्मान्तरण का बढ़ता खतरा एवं अंग्रेजी साम्राज्य द्वारा इतिहास को तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत करना जिसे डॉ0 नामवर सिंह " उपकार के आवरण में अपकार का षणयंत्र"[8] कहते हैं ने भारतीय शिक्षित मध्यवर्ग को एक नए सिरे से अपने इतिहास को टटोलने पर विवश किया। उपनिवेश की छाया में भारतीय संस्कृति के लोप हो जाने की इस आशंका ने नवजागरण के उन्नायकों को अपने स्वत्व-रक्षा का बोध कराया। इससे वह प्रक्रिया शुरू हुई जिसे बरनार्ड कोहन ने संस्कृति का मूर्तन कहा है। इतिहासकार शेखर बंदोपाध्याय इसी सन्दर्भ में लिखते हैं-" जिसमें शिक्षित भारतवासियों ने अपनी संस्कृति को एक ऐसी ठोस ईकाई के रूप में निरूपित किया, जिसका आसानी से उद्धरण दिया जा सके, तुलना की जा सके, हवाला दिया जा सके।....इसका उद्देश्य भारतीय संस्कृति को शुद्ध करना और इस तरह उसकी पुनर्खोज करना था कि वह बुद्धिवाद, अनुभववाद, एकेश्वरवाद और व्यक्तिवाद के यूरोपीय आदर्शों से मेल खाए।"[9] इस प्रकार नवजागरण के ढांचे में राष्ट्रीय चेतना और ऐतिहासिक चेतना के निर्माण की प्रक्रिया विचित्र ढंग से शुरू हुई।

हिंदी नवजागरण के लेखक भी प्राच्यविद्या और उसकी इतिहास दृष्टि से गहराई से प्रभावित होने के कारण और कुछ ब्रिटिश उपनिवेशवाद से उपजी आत्महीनता के कारण वर्तमान को अस्वीकार्य मानकर उसे तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे और प्राचीन या भविष्य को महत्वपूर्ण मानकर उसमें अपने आत्मगौरव की कल्पना करते

थे। क्योंकि प्राच्यवाद भारत को धार्मिक और आध्यात्मिक रूप से अग्रणी मानता है, इसीलिए जब भारतीय इतिहासकारों में इतिहास के निर्माण की योजना प्रारंभ हुई तब हिन्दुओं की आध्यात्मिक समृद्धि को मुख्य लक्षण के रूप में भी व्याख्यायित किया गया।

1.3. साहित्येतिहासलेखन: अवधारणा, समस्या और संभावना

साहित्य का विकास और इतिहास का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है। जिस प्रकार साहित्य का इतिहासलेखक ऐतिहासिक तथ्यों की उपेक्षा नहीं कर सकता है उसी प्रकार बिना साहित्यिक कृतियों के अध्ययन के इतिहास-लेखन पूर्णतः संभव नहीं हुआ है। इतिहास स्वयं साहित्य द्वारा ही निर्मित हुआ करता है। साहित्य के इतिहासलेखक का कार्य ही है कि वह साहित्य के माध्यम से समय समाज में फैली प्रवृति को यथातथ्य के रूप में साहित्येतिहास में प्रस्तुत करे। साहित्येतिहास अपने आप में एक सृजनात्मक कर्म भी है। जिसमें उस समय का ऐतिहासिक सत्य ही नहीं वरन तत्कालीन लोक-विश्वास, जीवन-मूल्य, मिथक एवं विचारधाराओं का समावेश होता है और साथ ही उस जाति की उत्पत्ति, संघर्ष एवं विकास की संवेदनात्मक लय की अनुगूंज भी होती है।

हिंदी साहित्य के इतिहासलेखन का प्रारंभ भी एक ऐतिहासिक घटना है। भारत में छापेखाने के प्रसार ने हिंदी साहित्य के अनेक प्रक्षिप्त, अप्राप्य ग्रंथों को सुलभ बनाया। इस सन्दर्भ में फोर्ट विलियम कॉलेज से लेकर नागरी प्रचारिणी सभा तक का अमूल्य योगदान है। छापेखाने की पद्धति ने साहित्य को एक ऐसा सर्वसुलभ और संरक्षणीय आकार दिया जिससे आधुनिक समय में साहित्य का इतिहास लिखा जाना संभव हुआ।

साहित्य यद्यपि एक सामाजिक प्रक्रिया है पर साहित्येतिहास लेखन प्रायः विश्वविद्यालयी प्रक्रिया का अनिवार्य अंग रहा है। भारत में आधुनिक विश्वविद्यालयों

के निर्माण के साथ-साथ इतिहास का अध्ययन भी अनिवार्य होता रहा। हिंदी साहित्य के इतिहास के परिपेक्ष्य में देखें तो इसका उपयोग आज केवल एकेडमिक दृष्टि से ही रह गया है। यही वजह रही है कि प्रायः सभी विश्वविद्यालयों में जहां भी हिंदी साहित्येतिहास का अध्ययन-अध्यापन होता रहा है वहाँ इतिहासलेखन के अलग-अलग प्रयास भी नजर आते हैं। साहित्येतिहास लेखन के ये भिन्न-भिन्न प्रयास मुख्य रूप से साहित्येतिहास लेखन की गंभीर समस्याओं की तरफ इशारा करते हैं।

वर्तमान समय में इतिहास एक आधुनिक अकादमिक विषय के रूप में विश्वविद्यालयों में पढ़ाया जाता है और विशेषज्ञों के रूप में इतिहासकारों का एक खास वर्ग इसमें सक्रिय रहता है। परन्तु हिंदी साहित्येतिहास लेखन के प्रारंभिक प्रयासों के समय की परिस्थितियाँ आज से बहुत अलग थीं। इतिहास सिर्फ कक्षाओं और सेमिनारों में विशेषज्ञता प्राप्त विद्वानों का विषय नहीं था अपितु एक सजग, शिक्षित एवं भारतीय बौद्धिकों के लिए गहन रूचि का क्षेत्र था। इतिहास मात्र साहित्य या अध्ययन-अध्यापन तक सीमित न था अपितु वह पूरे युग का जीवंत सन्दर्भ था। इतिहासलेखन का तत्कालीन प्रयास मात्र इतिहासलेखन या घटनाओं का संकलन न होकर वर्तमान और भविष्य से भारत के पुनर्निर्माण का भी द्योतक था।

साहित्य का इतिहासलेखन असल में स्वतः आत्मनिषेध की प्रक्रिया है। जहां वह साहित्य (कला) है वहाँ इतिहास(विज्ञान) नहीं है। साहित्य और इतिहास के बीच एक महत्वपूर्ण सम्बन्ध की खोज ही साहित्येतिहास की अपनी समस्या है। साहित्य और इतिहास के परस्पर सम्बन्धों में एक संतुलन बैठाना ही इतिहासकार का प्रमुख कर्तव्य होना चाहिए। डॉ0 मैनेजर पाण्डेय इस सन्दर्भ में इतिहासकार के दृष्टिकोण को महत्वपूर्ण मानते हुए लिखते हैं— ''साहित्येतिहास साहित्य के विकास के अंतर्गत होने वाले परिवर्तनों के स्वरूप की व्याख्या है और हर तरह की व्याख्या के लिए एक सुसंगत दृष्टिकोण की आवश्यकता होती है। एक व्यापक विचार प्रक्रिया ही इतिहास को सुसंगति प्रदान करती है।''[10]

साहित्य का इतिहास अपने समय की मनोवृत्तियों और भावनाओं का प्रतिरूप होता है। यह केवल साहित्य का इतिहास नहीं होता वरन उसमें भाषा के इतिहास के साथ साथ सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनैतिक इतिहासों का भी समावेश होता है। अतः साहित्य का इतिहास अनेक इतिहासों का संगम होता है।

इतिहासकार जिस युग में जीवित रहता है अपनी परम्पराओं से अविछिन्न रहते हुए भी वह जीवंत परिवेशों एवं आयाम से समग्र प्रभाव ग्रहण करता है। साहित्येतिहास लेखन में विचारधारा की अहम् भूमिका होती है। क्योंकि प्रत्येक इतिहासकार की अपनी स्वायत्त इतिहास दृष्टि होती है। हिंदी साहित्येतिहास लेखन की परंपरा के मील के पत्थर आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने जनता की चित्तवृत्तियों को तद्युगीन व्यापक परिस्थितियों के सन्दर्भ में देखा और इतिहास के विकासवादी दृष्टिकोण का परिचय दिया। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस देश की प्राचीन परम्पराओं, संस्कृतियों को शास्त्रीय एवं लोक परम्पराओं के व्यापक सन्दर्भ में रख कर प्रत्येक युग के साहित्य का मूल्यांकन किया है। अतः साहित्य का इतिहास बदलते हुए साहित्यिक दृष्टिकोणों का भी इतिहास है।

साहित्य का इतिहासलेखन एक दोहरा कर्म है। साहित्य के इतिहासकार समय की नब्ज टटोलकर चीजों की पड़ताल करते हैं। इस लेखन क्रम में इतिहास दर्शन व इतिहास दृष्टि तो समाहित होती ही है। साथ ही साहित्यिक प्रवृत्तियों व परिस्थितियों का समन्वय भी होता है। चूँकि साहित्य और इतिहास में गहरा संबंध है, साहित्येतिहास लेखन की नवीन दृष्टि के सम्बन्ध में यह कहना समीचीन होगा कि इसमें विचारधारा का प्रमुख स्थान होता है। साहित्य की अपनी खास बात ही यही है कि वह अपनी कहन को संवेदनाओं से सिक्त करके मनोरम और अधिकाधिक आकर्षक व लोक ग्राह्य स्वरूप प्रदान करे। इस प्रकार नए सामाजिक-सांस्कृतिक सन्दर्भों में साहित्येतिहास की नवीनतम रूपाभिव्यक्ति आवश्यक बन जाती है। वर्तमान का वैज्ञानिक जीवन-दर्शन, इतिहास-दृष्टि के प्रतिपादन हेतु बेहद उपयोगी है।

आज का बौद्धिक जगत द्वंद्वात्मक भौतिक प्रणाली को साहित्येतिहास लेखन का मूल स्वर मानता है। यह किसी वस्तु, व्यक्ति और घटना या विचारों को अविभाज्य प्रसंग में देखने का अग्रणी है। साथ ही सामाजिक विकास-क्रम को उध्वर्मुन्मुख रूप में देखने तथा सामान्य जनता के हितों की हिमायत करता है। इसी के बरक्स 19 वीं सदी के उत्तरार्ध में उद्भूत सबाल्टर्न इतिहास दर्शन आज साहित्येतिहास लेखन के केन्द्र में है।

वर्तमान सन्दर्भ में देखें तो साहित्य के इतिहास की अवधारणा साहित्य चिंतन के विषय में एक महत्वपूर्ण परन्तु विवादास्पद समस्या के रूप में उभर कर आई है। एक तरफ़ साहित्य के इतिहास की उपयोगिता और संभावना को प्रश्नांकित किया जा रहा है। वहीं दूसरी तरफ़ साहित्य के इतिहास के स्वरूप पर भी संदेह प्रकट किया जा रहा है। साहित्य के इतिहास के विरोधी बौद्धिक साहित्य की जिन प्रकृति के कारण उसके इतिहास का विरोध करते हैं वह हैं, साहित्य की सार्वभौमिकता, अस्मिता, उसके शाश्वत सौन्दर्यबोधीय मूल्य।

“ साहित्य का इतिहास न तो वर्तमान से पलायन का साधन है और न अतीत की आराधना का मार्ग, वह न तो अतीत के गड़े मुर्दे उखाड़ने का फल है और न वर्तमान के कटु यथार्थ के दंश से बचानेवाला कल्पनालोक । इतिहास न अतीत की अंध पूजा है और न वर्तमान से तिरस्कार। इतिहास वर्तमान की समस्याओं से बचने का बहाना नहीं है, वह विकास, प्रगति और कर्म का निषेध नहीं है। साहित्य का इतिहास अतीत की विलुप्त रचनाओं और रचनाकारों के उद्धार का केवल साधन नहीं है। वह काल प्रवाह में अपनी कलात्मक अक्षमता के कारण अपने अस्तित्व की रक्षा में असमर्थ रचनाओं और रचनाकारों का अजायबघर नहीं है। वह न तो रचना और रचनाकार संबंधी तिथियों और तथ्यों का कोश है और न कविवृत्त-संग्रह मात्र। वह किसी रचना को अपने काल का केवल ऐतिहासिक दस्तावेज या कीर्ति स्तंभ ही नही मानता। रचना को अपने युग के यथार्थ के प्रतिबिम्ब का केवल साधन नहीं समझता है और रचना की परंपरा, परिवेश और प्रभाव का विश्लेषण करके उसे भूल नहीं जाता। साहित्य का इतिहास केवल विचारों का इतिहास नहीं होता, वह संस्कृति के इतिहास

का परिशिष्ट भी नहीं है।.....साहित्य के इतिहास का आधार है, साहित्य के विकासशील स्वरूप की धारणा।"[11] वास्तव में यदि इतिहासकार साहित्य के नैरंतर्य एवं विकासशीलता में विश्वास नहीं करता तो उसके लिए साहित्य का इतिहास लेखन संभव नहीं है। क्योंकि साहित्य के इतिहास का मुख्य उद्देश्य साहित्य के विकास, परम्परा, नैरंतर्य का विस्तृत अवलोकन करना है।

आधुनिक अर्थों में जब इतिहास लेखन आरंभ हुआ तो इतिहास में उरोक्त आधार पर प्रगति की धारणा का विकास हुआ। सर्वप्रथम यहूदियों ने फिर ईसाईयों ने इतिहास में एक नया विचार प्रस्तुत किया जो इतिहास का उद्देश्यवादी दृष्टिकोण था। जिसके अनुसार ऐतिहासिक प्रक्रिया एक लक्ष्य की ओर अग्रसर हो रही है। इस तरह इतिहास को उसका उद्देश्य और लक्ष्य मिल गया।

जिस प्रकार साहित्य की प्रगति मनुष्य की प्रगति से जुड़ी हुई है और किसी भी प्रगति का एक उद्देश्य होता है। मानव के लक्ष्यपूर्ण कार्य का ही प्रतिफलन है मानव का सामाजिक इतिहास। अतः साहित्य में होने वाले परिवर्तन और निरंतरता के द्वंद्वात्मक विकासशील संबंध की व्याख्या से साहित्य का इतिहास लेखन संभव होता है।

साहित्य पर विचार करते हुए विभिन्न विद्वान साहित्य को विकासशील प्रक्रिया मानते हैं क्योंकि वे सम्पूर्ण मानव जाति के साहित्य या किसी विशेष समुदाय की विशिष्टताओं या साहित्य विधाओं की गतिशीलता में विश्वास करते हैं। बहुत से चिंतकों का मानना है कि प्रगति सामाजिक ऐतिहासिक यथार्थ की निरंतर चलने वाली प्रक्रिया से संचालित प्रक्रिया है। इसीलिए साहित्य के इतिहास में प्रगति भी सतत प्रवाहित है। साहित्य का इतिहासलेखक यदि इतिहास में नैरंतर्य या बदलाव को दृष्टिगत करता चलता है तो वहीं परंपरा के अनुशीलन एवं नित-नवीन प्रयोगों के संबंध को भी उजागर करते चलता है। बहुत से चिन्तक जो साहित्येतिहास को संभव ही नहीं मानते वे साहित्य के लिए ऐतिहासिक चेतना या ऐतिहासिक दृष्टि को अनुपयोगी मानते हैं। और साहित्य के अनुशीलन की ऐतिहासिक पद्धति और साहित्य के इतिहास को अलग-अलग मानते हैं। इस प्रकार वे साहित्येतिहास में ऐतिहासिक

पद्धति के सारे दोषों को देखते हैं। कुछ विचारक साहित्य के इतिहास में अतीत को वर्तमान के केवल कारण के रूप में देखते हैं। इस तरह अतीत और वर्तमान का संबंध कार्य-कारण संबंध हो जाता है। इस प्रक्रिया में अतीत वर्तमान के ऐतिहासिक संघर्ष से स्वतन्त्र प्रतीत होता है। वास्तव में वर्तमान के ऐतिहासिक संघर्ष के परिणामस्वरूप अतीत की भी नई नई व्याख्याएं सामने आती हैं।

एक बौद्धिक अनुशासन के रूप में साहित्य के इतिहास को ऐतिहासिक आलोचना से स्वतन्त्र विकसित करने के लिए यह जरूरी है कि रचना, रचनात्मक प्रवृत्तियों और कलात्मक बोध के उदय तथा द्वंद्वात्मक विकास को एक गतिशील प्रक्रिया के रूप में विवेचित किया जाए और इस विकास प्रक्रिया को प्रभावित करने वाले ऐतिहासिक यथार्थ से विकास प्रक्रिया के संबंध की व्याख्या भी की जाए। ऐतिहासिक अंतर्दृष्टि और आलोचनात्मक चेतना के संयोग के कारण ही आचार्य रामचंद्र शुक्ल का इतिहास एक क्लैसिक कृति है। जबकि ऐतिहासिक अंतर्दृष्टि और आलोचनात्मक चेतना के सामंजस्य के आभाव के कारण हिंदी साहित्य के अनेक दूसरे इतिहासों में इतिहास और आलोचना का पार्थक्य स्पष्ट देखा जा सकता है।

वर्तमान समय में हिंदी साहित्य के पुनर्लेखन की आवश्यकता महसूस की जा रही है। जिसके स्पष्ट कारण हैं साहित्य के ऐतिहासिक चेतना का विकास एवं समय-समय पर नवीन जानकारियों का मिलना। प्रत्येक युग में साहित्य-चेतना में निरंतर परिवर्तन और विकास होता रहता है। वर्तमान युग का साहित्य चिंतन वैसा नहीं है जैसा आचार्य शुक्ल के समय में था। यद्यपि साहित्य के मूलभूत परिणाम नहीं बदले फिर भी बदलते हुए युग की चेतना के कारण परिप्रेक्ष्य, प्रविधि, प्रक्रिया आदि में परिवर्तन निश्चित ही होता है। दूसरा प्रम्मुख कारण यह है कि पिछले दशकों में निरंतर अनुसंधान के फलस्वरूप प्रचुर नवीन सामग्री सामने आयी है और अनेक स्वीकृत तथ्यों का संशोधन हुआ है जिनसे पूर्ववर्ती निर्णय और निष्कर्ष अनिवार्यतः बदल गए हैं। इनके आलावा महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि केवल अतीत ही वर्तमान को प्रभावित नहीं करता अपितु वर्तमान भी अतीत को प्रभावित करता है। इस तर्क से

प्रत्येक युग में साहित्य के नए विकास रूप उसके पूर्वरूपों के मूल्यांकन को प्रभावित करते रहते हैं।

वर्तमान समय में प्रश्न उठता है कि साहित्य के इतिहास लेखन की नई दृष्टि कैसी हो? हिंदी साहित्य के मानक इतिहास ग्रन्थ जो आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा लिखा गया था, वर्तमान समय में उसकी भी प्रासंगिकता पर प्रश्नचिन्ह लगाए जा रहे हैं। आचार्य शुक्ल ने जब इतिहास का कार्यभार सम्भाला उस युग में उनके सामने इतिहास लेखन के लिए मानक दृष्टिकोण विधेयवाद के रूप में उपलब्द्ध था। आचार्य शुक्ल का ग्रन्थ भी विधेयवादी पद्धति अपनाने के कारण साहित्य के मानक इतिहासग्रन्थ के रूप में स्वीकृत हुआ। साहित्येतिहास भी राजनीतिक इतिहासलेखन के समान चयन, व्याख्या और पुनर्निर्माण की प्रक्रिया पर आधारित होता है। इतिहासकार पहले रचना और रचनाकारों का चयन करता है। उसके बाद वह रचनात्मक प्रवृत्तियों, साहित्यिक दृष्टिकोणों और रचना संबंधी रीतियों के परिवर्तनों की व्याख्या करता है। इस प्रक्रिया से गुजर कर इतिहासकार साहित्य के सामूहिक विकास का इतिहास निर्मित करता है। साहित्येतिहास में इतिहासकार के आलोचनात्मक विवेक की जरूरत वहीं से शुरू हो जाती है जहाँ से इतिहासलेखन का कार्य शुरू हो जाता है। प्रत्येक इतिहासकार अपने युग का गुलाम होता है। इस प्रकार ऐतिहासिक तथ्यों के बारे में भिन्न इतिहासकारों के वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन अलग-अलग होते हैं जैसे उनके दृष्टिकोण अलग-अलग होते हैं। इस प्रकार साहित्य का इतिहासलेखन कभी तटस्थ नहीं होता वरन यह कहना चाहिए कि साहित्येतिहास लिखने वाला प्रत्येक इतिहासकार किसी न किसी दृष्टिकोण को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जरूर अपनाता है। इतिहास की विधेयवाद पद्धति भी पूर्णतः अपने समय काल से उपजी और प्रभावित हैं।

विधेयवाद का सिद्धांत सर्वप्रथम समाजशास्त्रीय विज्ञान के रूप में आया, जिसे लाने का श्रेय अगस्त कॉम्ते को है। कॉम्ते की मान्यता थी कि व्यवस्था का विकास ही प्रगति है। साथ ही समाजशास्त्र का संबंध भी विकास एवं न्याय से है। इसलिए समाजशास्त्र के भी वैज्ञानिक नियम, कानून होने चाहिए। जिससे उसे सामान्यीकृत किया जा सके।

इसीलिए उन्होंने वैज्ञानिक परीक्षण की पद्धति जो प्राकृतिक विज्ञान का आधार थी, उसे समाजशास्त्र में लागू किया, जिसे विधेयवाद कहा गया। इसके बाद साहित्य एवं अन्य अनुशासनों में भी विधेयवादी पद्धति अपनाई जाने लगी।

इस प्रकार 17 वीं शताब्दी की वैज्ञानिक क्रांति से इतिहास भी वैज्ञानिक ढंग से लिखा जाने लगा। विधेयवाद मुख्यतः यूरोपीय पुनर्जागरण की ज्ञानोदय परियोजना का ही एक अंग है, जिसका आधार है तर्क, कारण, परीक्षण अवलोकन एवं ज्ञान। विधेयवादी दृष्टि मानव क्रिया की व्याख्या निरीक्षण योग्य तथ्यों एवं सामाजिक निर्धारकों द्वारा तय करती है। मानव व्यवहार के कारण होते हैं और इन कारणों को देखा जा सकता है, केवल कल्पना के द्वारा इनकी परीक्षा नहीं की जा सकती है। यह व्यवहार किसी अलौकिक घटना निरपेक्ष सत्ता जैसे आत्मा, ईश्वर आदि द्वारा नहीं होते। विधेयवादी दृष्टि इतिहास संबंधित प्रत्येक तर्क को कारणों की प्राथमिकता के प्रश्न के इर्द गिर्द घूमते देखती है। यह साहित्य एवं परिपार्श्विक परिस्थितियों में कार्य-कारण सम्बन्ध मानती है। साहित्य समाज की गतिविधियों से संचालित होता है। मनुष्य अपनी फंतासियों द्वारा असामान्य रूप से शासित नहीं होता है, बल्कि मनुष्य के व्यवहार वस्तुओं के स्वभाव से उद्भूत किन्हीं नियमों तथा सिद्धांतों द्वारा निर्देशित होते हैं। विधेयवादी इतिहास दृष्टि एक सर्वस्वीकृत दृष्टि थी कि अतीत की घटनाओं को क्रमबद्धता देकर कारण द्वारा कारण और प्रभाव के क्रम में रखना ही इतिहास है। समाज की संरचना, उसमें होने वाले परिवर्तन, उसके तनाव और द्वंद्व, व्यक्ति की अपनी सत्ता और समाज के साथ उसके टकराव या सामंजस्य के इस लंबे संघर्ष और संगतियों में स्वतः एक विन्यास उभरता है, नियम सूझते हैं। यह नियम कृति और स्थिति, कृति और समाज गति एवं कृति और सामान्य मानव इच्छा आदि में खोजे जा सकते हैं। साहित्यिक विकास के नियम भौतिक विज्ञानों की तरह पूर्णतः अपवाद रहित नहीं होते, किन्तु फिर भी वह नियम हैं। क्योंकि अपवादों और आकस्मिकताओं की भी तथ्यगत व्याख्या की जा सकती है। विधेयवादी इतिहासकार को सरलीकरण और कारणों की बहुविधता के बीच काम करना पड़ता है। विज्ञान की तरह इतिहास

भी इस दोहरी और बाह्य रूप से परस्पर विरोधी प्रक्रिया से गुजरता है। कॉम्ते के अनुसार विधेयवाद का वही अर्थ है जो विज्ञान का है। अतः इसे विज्ञान की तरह ही घटनाओं के अवलोकन तथा वर्गीकरण तक ही सीमित रखना चाहिए। कॉम्ते का विश्वास है कि ज्ञान का विकास कई चरणों में हुआ है- " ....that each of our leading conceptions, each branch of our knowledge passes successively through three different theoretical conditions : the theological or fictitious, the Metaphysical or abstract and the scientific or positive..."[12] यह विकास धर्मशास्त्रीय चरण से तार्किक चरण में पहुंचा है और तभी वह अपने विकास की उच्चतम अवस्था में पहुँचता है। ज्ञान के इसी चरण को कॉम्ते पॉजिटिविज्म कहते हैं यह अवस्था कारण और अवलोकन पर ही बल देती है तथा अनुभव पर आधारित वैज्ञानिक नियमों के निर्माण में विश्वास रखती है।

विधेयवाद जहाँ ज्ञानोदय की परियोजना के फलस्वरूप आधुनिकता से संबंधित है। वहीं इतिहास लेखन की अगली प्रचलित पद्धति रोमांटिसिज़्म से उसका विरोध का रिश्ता है। स्वच्छंदतावादी इतिहास दृष्टि एवं विधेयवादी इतिहास दृष्टि में भावुकता के विरुद्ध तार्किकता का विद्रोह है। स्वच्छंदतावादी इतिहास दृष्टि ऐतिहासिक घटनाओं को अधिक काल्पनिकता के आधार पर देखती है तो विधेयवादी इतिहास दृष्टि सभी तथ्य एवं घटनाओं को परीक्षण के क्रम में देखती है। स्वच्छंदतावाद अधिक आत्मकेंद्रित विचारधारा है। जो व्यक्ति को केन्द्र में रखती है और उस आधार पर स्वतंत्रता एवं विकास के मूल्य को रखती है। जबकि विधेयवादी दृष्टि समाजकेंद्रित है। जो सामाजिक विकास, परंपरा को महत्व देती है। स्वच्छन्दतावादी जहाँ बाह्य से आंतरिक की यात्रा करते हैं वहीं विधेयवादी इतिहासकार आंतरिक से बाह्य की और जाते हैं। वे सार्वभौम सिद्धांत लागू करना चाहते थे। जिससे विश्व के किसी भी समाज के निष्कर्ष निकाले जा सकें।

संक्षेप में- " विधेयवादी इतिहास दृष्टि के अनुसार साहित्य और समाज में कार्य-कारण सम्बद्ध होता है, साहित्य सामाजिक परिस्थितियों से निर्धारित होता है। विधेयवादी

वैज्ञानिकता के नाम पर प्राकृतिक विज्ञान की प्रणाली को साहित्य के इतिहास लेखन में लागू करते रहें हैं। वैज्ञानिकता के बहाने विचारधारात्मक संघर्ष में तटस्थता और पक्षधरता विरोधी रवैया अपनाते हैं। वे तथ्यपरकता से बंधे होने के कारण मूल्यों की उपेक्षा करते हैं। साहित्येतिहास लेखन को पुरातात्विक विवेचन बना कर विकृत इतिहास प्रस्तुत करते हैं। सबसे अधिक विचारणीय बात यह है कि विधेयवादी साहित्य के सौन्दर्यबोधीय और कलात्मक पक्षों की उपेक्षा करते हैं।"[13] इपोलित अडोल्फ वेन के अंग्रेजी साहित्य के इतिहास को विधेयवादी इतिहासलेखन का उदाहरण माना जाता है। उन्होंने साहित्य के इतिहास की भूमिका में लिखा है कि " कोई साहित्यिक कृति न तो एक व्यक्ति की कल्पना की क्रीड़ा है, न किसी उत्तेजित मन की भटकी हुई तरंग वह समकालीन रीति-रिवाजों का पुनर्लेखन है और एक विशेष प्रकार के मानस की अभिव्यक्ति है।"[14] उन्होंने कहा है कि ऐतिहासिक तथ्यों के संग्रह के बाद हमें कारणों की खोज करनी चाहिए। तथ्य चाहे नैतिक हों या भौतिक सबके कारण होते हैं। इसी प्रकार आचार्य रामचंद्र शुक्ल का 'हिंदी साहित्य का इतिहास' भी कार्य-कारण संबंधों की व्याख्या प्रस्तुत करता है। जब वे भूमिका में लिखते हैं-" जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है.....इन्हीं चित्तवृतियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य परंपरा के साथ उनका संबंध दिखाना ही साहित्य का इतिहास कहलाता है।"[15] यद्यपि आचार्य रामचंद्र शुक्ल की विधेयवादी दृष्टि पूर्णतः उनके इतिहासग्रन्थ पर लागू नहीं होती, वह कहीं कहीं ही लागू होती है। जबकि तेन का इतिहासग्रन्थ पूर्णतः विधेयवाद की उपज है। तेन का उद्देश्य है एक ऐसे व्यापक दृष्टिकोण का निर्माण जिसमें मानव-मानस की सम्पूर्ण गतिविधि से उसके प्राकृतिक एवं सामाजिक परिवेश के संबंध की व्याख्या हो सके। यहाँ लुसिए गोल्डमान की विश्वदृष्टि की धारणा का पूर्वाभास मिलता है।

विधेयवादी इतिहास दृष्टी के आधार पर रैंके ने जर्मनी का इतिहास लिखा। उनके अनुसार वैज्ञानिक इतिहास का अर्थ है वस्तुनिष्ठ एवं तटस्थ इतिहास-" scientific history meant objective or unbiased history, or history strictly in accordance with facts and uninfluenced by subjective feeling or prejudice."[16]

'History of civilization in England' लिखने वाले विधेयवादी इतिहासकार हेनरी थोमस बकल की मान्यता है कि " the real history of the human race is the history of tendencies which are perceived by the minds, and not of event which are discerned by the senses."[17] आगे बकल लिखते हैं कि –" certain regularity and predictability of human actions could be discerned as such actions are governed by mental and physical laws. There is nothing in the action of man and societies which is mysterious, providential or supernatural as to make them impervious to investigation : they are governed by fixed laws."[18]

वास्तव में विधेयवादी इतिहास दृष्टि वैज्ञानिकता की उपज है एवं जब भी यह कुछ शाश्वत सार्वभौमिक प्रतिमान बनाने लगती है एवं प्राकृतिक परिवेश और साहित्यिक विशेषताओं के बीच कार्य-कारण सम्बन्ध निर्धारित करती है। तब प्रायः सामान्यीकरण का शिकार हो जाती है। जब इतिहासकार परंपरा, परिवेश एवं प्रभाव का विवेचन रचना को भूलकर करता है। तब इतिहास अधूरा और एकांगी हो जाता है। विधेयवादी इतिहास दृष्टि के कारण, रचना से, जीवन्त साहित्य से इतिहास विछिन्न हो गया। इतिहास परंपरा तथा परिवेश के विश्लेषण तक सीमित हो गया। इतिहास का काम तथ्य संग्रह मात्र रह गया। साहित्य के इतिहास का विधेयवादी रूप इतना स्थायी बन गया कि प्रायः विधेयवादी इतिहास ही साहित्य के इतिहास का

पर्याय बन गया। विधेयवादी इतिहास का काम रचना के मूल्यांकन के लिए वस्तुपरक भूमिका तैयार करना रह गया। उसमें साहित्य-परम्परा के विश्लेषण से उत्पन्न सामान्य संश्लिष्ट रूप की उपेक्षा की गयी। उसे इतिहास की उपलब्धि के रूप में स्वीकार नहीं किया गया।

वर्तमान समय में देखें तो इतिहास की कोई मानक पद्धति नहीं दिखाई देती। वास्तव में ज्ञान की शाखाओं में भिन्नताएं होने के कारण साहित्य पर वैज्ञानिकता का आरोप, साहित्य की साहित्यिकता की उपेक्षा करता है। जिस वैज्ञानिक दृष्टि को एक समय आधुनिकता की योजना में केन्द्रीयता प्राप्त थी वही उत्तर-आधुनिक समय में प्रश्नों के कटघरे में है। उत्तर-आधुनिकतावादी इतिहास दृष्टि किसी एक सिद्धांत का नहीं वरन अनेक सिद्धांतों का या बौद्धिक अभिवृत्तियों का नाम है और इन सब के मूल में बुनियादी तत्व सृजन की स्वतंत्रता तथा अर्थ पर बैठाए हुए पहरे को निरस्त करना है। ये नई बौद्धिक अभिवृत्तियाँ, नई सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक स्थिति से उत्पन्न हुई है। उत्तर-आधुनिकता एक नई सांस्कृतिक अवस्था भी है। इसका अर्थ है आधुनिकता के बाद का युग जो उत्तर-आधुनिक कहलाता है।

उत्तर-आधुनिकता की पहली परिकल्पना आर्नल्ड टॉयनबी ने की थी। उन्होंने अपनी पुस्तक 'A study of History' में आज से लगभग 120 साल पूर्व 1850 इ. स . में 1857 इ. स. के बीच आधुनिक युग की समाप्ति की घोषणा की थी। उन्होंने 1918-1939 के बीच के समय के लिए उत्तर-आधुनिक समय का प्रयोग किया था। उनके मतानुसार उत्तर-आधुनिकता के मसीहा नित्से थे। लेकिन उत्तर-आधुनिक शब्द का चलन बाद में आया...एडोर्नो होर्खिमोर ने इसे नए दार्शनिक अर्थ दिए । दाब में दार्शनिक ल्योतार ने इसे एक स्थिति के रूप में स्थिर करने का प्रयत्न किया। इतिहास में उत्तर-आधुनिक विश्लेषण का पहला प्रयोग अमरीकी उपन्यासकार जॉन वाथ्र ने

1967 में 'द लिटरेचर ऑफ एक्सॉशन' नामक प्रथम लेख में सार्थक ढंग से किया था। जबकि उत्तर आधुनिक शब्द का प्रयोग सबसे पहले 1979 में ल्योतार ने किया था।

उत्तर-आधुनिकतावादी इतिहास दृष्टि, विचार या दर्शन से अधिक एक प्रवृत्ति का नाम है। यह बीसवीं शताब्दी की मूल धारा है। यह सम्पूर्ण यूरोपीय आधुनिक दर्शन के प्रति एक तीव्र प्रतिक्रिया है- देकार्त, सार्त्र एवं जर्मन चिंतकों के प्रति। पाउलोस मार ग्रागोरिओस के अनुसार उत्तर आधुनिकता एक विचारधारा या लक्ष्य केंद्रित या नियम अनुशासित आंदोलन न होकर पश्चिमी मानववाद की दुर्दशा है। यह लक्ष्यों, रेखाओं, नियमों एवं साधारण विचारों पर विचार नहीं करतीं। यह आधुनिक पश्चात्य मानववाद कि अग्रचेतना की स्थिति है। ल्योतार, रोर्टी, फूको एवं देरिदा आदि के दर्शन मुख्य रूप से हेगल के प्रत्ययवादी विचारों की चेतन प्रतिक्रिया के रूप में विकसित हुए हैं।

उत्तर-आधुनिकतावाद की मूल चेतना आधुनिक ही है। क्योंकि इसका विकास एवं इसकी अस्मिता का आधार वही उद्योग है जो आधुनिकता की देन है। टायनबी के अनुसार आधुनिकता के बाद उत्तर आधुनिकता दृष्टि तब शुरू होती है जब लोग कई अर्थों में अपने जीवन, विचार एवं असंगतियों को अपना लेते हैं। इसकी चेतना विगत को एवं विगत के प्रतिमानों को भुला देने के सक्रिय उत्साह में दीख पड़ती है। इस प्रकार उत्तर-आधुनिकतावाद आधुनिकीकरण की प्रक्रिया की समाप्ति के बाद की स्थिति है।

उत्तर-आधुनिकतावादी इतिहास दृष्टि इस बात में विश्वास रखती है कि रचनाकार किस काव्य-प्रकार में रचना नहीं करता। मुक्त रूप से सर्जन करता है। काव्य-रचनाओं में अनेक अधूरी पंक्तियाँ होती हैं, जिसे पाठक स्वयं अपनी कल्पना, अनुभव के आधार पर समझेगा। कविता एक मुख्य व्यापार है, कविता एक स्वानुभव रसिक नहीं, सर्वानुभाव रसिक बन गई है। काव्य का आधार या पाठ महत्वपूर्ण नहीं होता उसमें से

व्यक्त होने वाले अर्थों को, सन्दर्भों को उजागर करना महत्वपूर्ण होता है। कवि की दृष्टि एवं सृष्टि स्व से स्वकेंद्रित बन गयी है। उत्तर-आधुनिक कविता वाद विहीन है। दलित साहित्य, उपन्यास में आंचलिकता, नारी विमर्श की रचनाएँ, इसका परिणाम यह बहुलतावादी दर्शन है। कृति का अंत हो रहा है, पाठ कृति की जगह ले रहा है। पाठ और विखंडन उत्तर-आधुनिकतावादी हैं। यह कलाकार के लुटते जाने का वक्त है। साहित्य और कला मुनाफे से संबंधित हो गये हैं। वे जितना अधिक मुनाफा देंगे उतने ही मूल्यवान हैं। जैसे शोभा डे, सुरेन्द्र वर्मा, अरुंधती रॉय आदि की रचनाएँ।

उत्तर-आधुनिकतावादी इतिहासकार दार्शनिक की तरह है। वह जो पाठ लिखता है, जो निर्माण करता है, उसके लिए कोई भी पूर्व-निर्धारित नियम लागू नहीं होते। उसकी कोई परंपरा नहीं है। वे पूर्ण नियमों से जांचे नहीं जा सकते। हर कृति अपने नियम खोजती है। उत्तर- आधुनिक इतिहासकार बिना नियमों के खेल खेलते हैं, इसीलिए साहित्य सिर्फ संभावना होता है संभव नहीं। पाठ या कृति घटना मात्र होती है, उपलब्धि नहीं। इसीलिए वे अपने सर्जक के नहीं होते। उनका अर्जन बहुत तुरत-फुरत होता है। उत्तर-आधुनिकतावादी दृष्टि एक खुली बौद्धिक अभिवृत्ति है सर्जनात्मक आजादी की, अपनी सांस्कृतिक अस्मिता पर आग्रह करने की, अर्थ को रूढ़िगत परिभाषा से स्वतंत्र करने की। संव्यूहन चाहे वह राजनैतिक हो या साहित्यिक यह इतिहास दृष्टि उसे निरस्त करती है । साथ ही अर्थ के रूढ़ पक्ष के साथ उसके दमित या उपेक्षित पक्ष को दिखाती है। आज के उत्तर-आधुनिक दौर में विभेद तथा सापेक्षता पर आधारित सबका एक निजी सत्य है, और इस सत्य के प्रति उत्सवधर्मिता का भाव भी है। फ्रेंच विचारक ज्यां फ्रंकोइस ल्योतार कहते हैं कि " अब इस संसार में सच्चाई, तर्क या सार्वभौमिक लेखे-जोखे की बात व्यर्थ है। वैज्ञानिक, धार्मिक, ऐतिहासिक या राजनीतिक महाआख्यानों का समय बीत चुका है। यह सूक्ष्म विवेचना, विखंडित चेतनाओं, बहुलताओं और स्थानीयताओं का समय है।"[19] इसी

विच्छेदपरक दर्शन को आगे बढाते हुए ज्यां ब्रोदिला कहते हैं " आज संकेत चिन्हों, छवियों तथा आभासों की एक मायावी दुनिया में मनुष्यों की बुनियादी आवश्यकताओं को तय कर पाना संभव नहीं है। यह समय अतियों से भारी वास्तविकताओं यानी 'हाइपर रिएलटी' का समय है। हम साईबर स्पेस, मुक्त प्रवाही छवियों और मीडिया नियंत्रित घटनाओं के एक 'हाईपर रीयल' संसार में रह रहे हैं।"[20] जौक देरिदा ने घोषित कर दिया कि कुछ भी पाठ से बाहर नहीं है। इतिहास, दर्शन, राजनीति आदि सब कुछ पाठ है। महत्वपूर्ण वह नहीं जो कहा गया है, जो नहीं कहा गया वह स्थगित है, वह महत्वपूर्ण है। अर्थ अनंत स्थगन में है । विचारधार विहीन, इतिहास विहीन पाठ और अंतर पाठ। वहीं फ्रेडरिक जेमसन यह टिप्पणी करते हैं कि-" उत्तर आधुनिक संस्कृति की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ मनमाने ढंग से कोलाज बनाती हैं। बिम्बों के आने और जाने के पीछे कोई तर्क नहीं है। .... चूँकि वह अपने बाहर किसी अर्थ को व्यक्त नहीं करता इसीलिए वह अपने से बाहर के यथार्थ को लेकर कोई सवाल भी नहीं उठाता वह स्वयं ही अपना सन्दर्भ है।"[21]

अतः उत्तर आधुनिकतावादी इतिहास दृष्टि की सामान्य विशेषताएं विकेंद्रीयता, स्थानीयता, विभिन्नता, अस्मितावादी विमर्शों, अन्तवादी धारणाओं, चिन्ह्वाद, पूर्णवाद के विरोध एवं लोकप्रिय संस्कृति के पक्ष में देखी जा सकती है । जो आधुनिकता की परियोजना से उत्पन्न वैज्ञानिक इतिहासलेखन के एकदम विपरीत या दूसरे शब्दों में कहें तो प्रतिक्रिया के रूप में दिखाई देती है। जहाँ वैज्ञानिक पद्धति केन्द्रीयता को आधार लेकर चलती है वहीं उत्तर आधुनिक इतिहास दृष्टि एक साथ कई दर्शनों, सिद्धांतों को अपने में समेटती है एवं इतिहास का खंड-खंड रूप हमारे समक्ष प्रस्तुत करती है।

जहाँ विधेयवादी इतिहास दृष्टि आधुनिकता की उपज थी वहीं उत्तर-आधुनिक इतिहास दृष्टि आधुनिकताबोध से उत्पन्न आधुनिकता की समस्याओं से उपजी है।

विधेयवादी इतिहास दृष्टि की हर चीज को तर्कसंगत बना डालने की अहंकारपूर्ण शक्ति के विपरीत उत्तर-आधुनिकतावादी इतिहास दृष्टि तार्किकता के अति उपयोग पर प्रश्नचिन्ह खड़ा करती है। इसके अनुसार मनुष्य पूर्णतः स्वायत्त उच्च एवं श्रेष्ठ है। अपने मानस एवं कामुकता के अलावा न तो किसी के प्रति उत्तरदायी है और न ही किसी पर आश्रित है।

विधेयवादी इतिहास दृष्टि ज्ञान को महत्वपूर्ण मानती है एवं समाज का उच्चतम विकास ज्ञान की 'positive' अवस्था में देखती है। उत्तर आधुनिकतावादी इतिहास दृष्टि ज्ञान की जगह उपभोग को प्राधान्यता देती है। यह ज्ञान शब्द का अर्थ बदल देती है। यह अज्ञात को प्रस्तुत करती है। वैध्यता का एक नया आदर्श प्रस्तुत करती है। ऐक्य के बदले मतभेद को महत्व देती है। एकरूपता को अस्वीकार कर के विषमता की स्थिति का स्वीकार है यहाँ । एकरूपता के प्रति यह अरुचि ऐतिहासिक अनुभव पर आधारित है। विधेयवादी इतिहास दृष्टि जहाँ इतिहास के तथ्य एवं घटनाओं को साहित्यिक परंपरा के क्रम में परीक्षण द्वारा देखती है। जबकि उत्तर-आधुनिकतावादी इतिहास दृष्टि इतिहास के अंत की घोषणा करती है। विधेयवादी इतिहास दृष्टि जहाँ अतीत की पुनर्व्याख्या कर उसे अपने अनुकूल बना सकती थी वहीं उत्तर-आधुनिकता इस पुनर्व्याख्या को भी एक खिलौना बना डालती है। यह अतीत में जाने की छूट तो देती है, किन्तु उसे मनोरंजक बनाते हुए पण्य एवं उपभोग की सामग्री बनाने के लिए। यह अतीत का पुनः उत्पादन संभव करती है। किन्तु उसकी भव्यता का स्वीकार नहीं करती। यह हर महानता को समान्य बनाती है।

उत्तर-आधुनिकतावादी इतिहास दृष्टि विधेयवादी इतिहास दृष्टि की साहित्य की समग्रतावादी धारणा को अस्वीकार करती है। विधेयवाद जहाँ रचनाओं एवं सामाजिक विकास के सम्बन्ध को कार्य-कारण संबंधों द्वारा काल-क्रम के अनुसार परीक्षण करके सामान्यीकृत नियम बनाता है वहीं उत्तर-आधुनिकतावाद रचना को स्वायत्त ईकाई मानता है। उत्तर-आधुनिक इतिहास दृष्टि रचना को विज्ञापन तथा

समीक्षा को प्रयोजन बना देती हैं। इससे शब्दार्थ में अनेकांत पैदा होते हैं। इसमें एक देश का सत्य, विश्व का सत्य बन गया है। कला सूचना मात्र है।

उत्तर-आधुनिकतावादी इतिहास दृष्टि वैचारिकता एवं राष्ट्रीयता के बजाय क्षेत्रीयता तथा स्थानीयता पर बल देती है। यह सार्थक बहुलता को महत्व देती है। इसके अनुसार एकता मात्र दमनकारी व एक पक्षीय तरीकों से स्थापित की जा सकती है । एकता का सीधा अर्थ है नियमों व बलों की आवश्यकता। बहुलता व विषमता सामाजिक प्रक्रिया में अनिवार्य रूप से टकराव की स्थिति पैदा करते हैं। उत्तर-आधुनिकता के अनुसार सापेक्ष मतैक्य न्याय प्राप्ति करने का कोई संतोष कारक समाधान नहीं दे सकता। इसीलिए न्याय के ऐसे वैचारिक व व्यावहारिक पक्ष पर पहुंचना होगा जो मतैक्य से जुड़े न हो। ल्योतार ने न्याय की चेतना विकसित की और अन्याय के प्रति एक नई संवेदनशीलता का निर्माण किया। उत्तर-आधुनिक इतिहास दृष्टि उच्च संस्कृति एवं निम्न संस्कृति में अंतर करने की प्रक्रिया को चुनौती देती है। यह लोक संस्कृति को अभिजात्य संस्कृति के बरक्स रखकर उसे अभिजात्य से कमतर आंकने की दृष्टि को प्रश्नांकित करती है। यहाँ विधेयवादी भव्यता, महानता का अस्वीकार है। इतिहास में लोक साहित्य के महत्व को रेखांकित करते हुए डॉ0 नामवर सिंह लिखते हैं कि-" लोक-साहित्य के क्रमिक विकास की ओर ध्यान रखते हुए भी हमें यह न भूलना चाहिए कि लोक-साहित्य शिष्ट-साहित्य की अपेक्षा बहुत ही परंपरा विहित होता है। जिस प्रकार हमारे कृषि के साधनों और ग्राम संगठन के आधारों में बहुत कम परिवर्तनं हुआ है, उसी प्रकार हमारे लोक साहित्य के ढांचे में भी। ....रुढ़ि-निर्वाह के कारण लोक प्रथाओं के अध्ययन के लिए लोक-साहित्य सर्वाधिक उपयोगी समझा जाता है।"[22]

उत्तर आधुनिकता विचारधारा, व्यक्तिगत आस्थाओं, त्रुटियों एवं विकारों को विज्ञान से जोड़ती है। उत्तर आधुनिक इतिहासकार पीछे की ओर लौटना नहीं चाहते । यह उन पारंपरिक और धार्मिक प्रतिमानों को पुनः स्थापित नहीं करना चाहते, जिन्हें

आधुनिकतावादियों ने स्वीकार किया था। वे ऐसे प्रतिमानों को अस्वीकार करते हैं जिनमें लिखित भाषा एवं तर्कशास्त्रीय तार्किकता पर बल दिया जाता है। विधेयवाद जहाँ निश्चितता के असंदेहास्पद आधार पर किसी ज्ञानतंत्र को स्थापित करता है वहीं उत्तर-आधुनिकतावाद इस ज्ञान तंत्र की कठिनाइयों को स्वीकार करता है। उत्तर-आधुनिकतावादी इतिहासकार ऐसे समाज का इतिहास प्रस्तुत करते हैं जो अदमनकारी हो। विधेयवादी निश्चितता, क्रमिकता, एकरूपता की बजाए यहाँ अनिश्चितता, विकेंद्रीयता, विखंडन एवं बहुलता का आग्रह है। यह सिद्धांत अस्पष्ट एवं अनायास को मान्यता देता है।

इतिहास को वैज्ञानिक रूप में देखने का ही यह परिणाम निकला कि आज के उत्तर-आधुनिक युग में कला की स्वायत्तता एवं इतिहास के अंत की घोषणा की जा रही है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. मार्विक, आर्थर, इतिहास का स्वरूप, अनुवाद- लाल बहादुर वर्मा दिल्ली- ग्रन्थ शिल्पी, 2009
2. कार, ई0 एच0, इतिहास क्या है, चेन्नई- मैकमिलन पब्लिशर्स इंडिया लिमिटेड, 2009 , पृष्ठ संख्या-09
3. वही, पृष्ठ संख्या- 77
4. वही, पृष्ठ संख्या-90
5. थापर, रोमिला, हिस्टरी ऑफ इंडिया, पृष्ठ संख्या- 18
6. कार, ई0 एच0, इतिहास क्या है, चेन्नई- मैकमिलन पब्लिशर्स इंडिया लिमिटेड, 2009 , पृष्ठ संख्या-36
7. तलवार, वीरभारत, रस्साकशी, दिल्ली-सारांश प्रकाशन, 2006, पृष्ठ संख्या- 251
8. सिंह, नामवर, नामवर संचयिता, संपादक-नंदकिशोर नवल, नई दिल्ली- राजकमल प्रकाशन, 2003, पृष्ठ संख्या- 404
9. बंदोपाध्याय, शेखर, आधुनिक भारत का इतिहास ; पलासी से विभाजन तक, ओरियंट लॉन्गमैन, नयी दिल्ली, 2007, पृष्ठ संख्या-228
10. पाण्डेय, मैनेजर, साहित्य और इतिहास दृष्टि, नई दिल्ली- वाणी प्रकाशन, 2005
11. वही, पृष्ठ संख्या-4
12. कॉम्ते, अगस्त, Positive philosophy(1896) 1, pp-1-2, by internet
13. पाण्डेय, मैनेजर, साहित्य और इतिहास दृष्टि, नई दिल्ली- वाणी प्रकाशन, 2005,पृष्ठ संख्या-110

14. पाण्डेय, मैनेजर, साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, हरियाणा साहित्य अकदमी, पंचकूला, 2006, पृष्ठ संख्या-123
15. शुक्ल, आचार्य रामचंद्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, इलाहाबाद- लोकभारती प्रकाशन,2009, भूमिका
16. श्रीधरन, ई0 ,इतिहास-लेख, एक पाठ्यपुस्तक, नई दिल्ली, ओरियंट ब्लैकस्वान प्राइवेट लिमिटेड, 2006, पृष्ठ संख्या-189, अंग्रेजी संस्करण
17. वही, पृष्ठ संख्या- 193
18. वही, पृष्ठ संख्या-192
19. फ्रेडरिक जेमेरसन, वैश्विक पूँजी का सांस्कृतिक तर्क, अँधेरे समय में विचार, संपादक-विजय कुमार, संवाद प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 2010, पृष्ठ संख्या-91-92
20. ब्रदीला, ज्याँ, अतिरेकी यथार्थ के रूप में, उपरोक्त, पृष्ठ संख्या- 238
21. फ्रेडरिक जेमेरसन, वैश्विक पूँजी का सांस्कृतिक तर्क, अँधेरे समय में विचार, संपादक-विजय कुमार, संवाद प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, 2010, पृष्ठ संख्या-94
22. सिंह, नामवर, इतिहास और आलोचना, नई दिल्ली- राजकमल प्रकाशन, 2006, पृष्ठ संख्या-123

दूसरा अध्याय

हिंदी साहित्येतिहास-लेखन की परंपरा : प्रस्थान का क्रम

दूसरा अध्याय

हिंदी साहित्येतिहास-लेखन की परंपरा : प्रस्थान का क्रम

ध्यातव्य है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की परंपरा की शुरुआत ठीक ठीक कब से मानी जाए का यह प्रश्न अब अप्रासंगिक हो गया है। आज किसी ग्रन्थ को हिन्दी के पहले इतिहास की संज्ञा से विभूषित कर देना सिर्फ विवाद को आमंत्रित करने वाला प्रश्न है। जिसका कोई औचित्य नहीं। हिन्दी में सुव्यवस्थित और संगठित रूप से लिखा गया पहला इतिहास आचार्य रामचंद्र शुक्ल का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' ही माना जा सकता है। हाँलाकि वर्तमान समय में यह मानक ग्रन्थ भी विवादों से परे नहीं जा सका है। आचार्य शुक्ल जी के बाद आचार्य द्विवेदी ने इतिहास लेखन में महत्वपूर्ण प्रयास किया। किन्तु इनसे पूर्व भी हिन्दी के इतिहास लेखन की दिशा में प्रयास होते रहे थे। इतिहास लेखन के इन प्रयासों में इतिहास लेखन की अनिवार्य शर्तों का आभाव भले ही रहा हो लेकिन उनका अपना ऐतिहासिक महत्व है। उन्होंने इतिहास लेखन के लिए पूर्वपीठिका निर्माण और ऐतिहासिक सामग्री के संचयन का कार्य किया। जिसका परवर्ती इतिहासकारों ने बखूबी उपयोग किया है। आचार्य शुक्ल एवं आचार्य द्विवेदी ने इन्हें कविवृत संग्रह के रूप में स्वीकार किया है। किन्तु कविवृत संग्रह होते हुए भी ये ग्रन्थ हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन के लिए प्रचुर सामग्री उपलब्ध कराते हैं। इनका महत्व इस से कम नहीं हो जाता। 19 वीं सदी के पहले जो भी कविवृत संग्रह मिलते है वे साहित्य के इतिहास लेखन के दृष्टिकोण से नहीं हुए हैं अपितु किसी धर्म या सम्प्रदाय विशेष के भक्तों या कवियों के काव्य-संग्रह रूप में मिलते हैं। 'भक्तमाल', 'वार्ताएं', 'कालिदास-हजारा', आदि इस दृष्टि से उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं।

19 वीं सदी का भारत के राजनैतिक इतिहास लेखन में जो विशेष महत्व है वही हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन में भी है। 19 वीं सदी में इतिहास और स्मृतियों के माध्यम से एक नए इतिहास दृष्टिकोण का निर्माण भी शुरू हुआ। जिस प्रकार से

भारत के इतिहास की आधुनिक अर्थों में व्याख्या औपनिवेशिक सत्ताधारियों द्वारा प्रारंभ होती है उसी प्रकार हिन्दी के साहित्य का इतिहास लेखन भी औपनिवेशिक राज के प्रतिनिधि के रूप में गार्सा द तासी के इतिहास ग्रन्थ से माना जाता रहा है।

2. 1. हिन्दुई साहित्य का इतिहास

पेरिस विश्वविद्यालय में उर्दू के प्रोफेसर गार्सा द तासी ने 'इस्तवार द ला लितरेत्यूर एन्दुई हिन्दुस्तानी' के नाम से हिन्दुई और हिन्दुस्तानी का इतिहास फ़्रांसिसी भाषा में लिखा था। इसका पहला भाग 1839 में तथा द्वितीय 1847 में प्रकाशित हुआ था। प्रथम भाग में कवियों के परिचय थे और द्वितीय भाग में कवियों की रचनाओं के उदाहरण, जो फ्रेंच भाषा में अनुवादित थे। 1870 में इसका दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ, जिसमें इसे तीन खण्डों में विभक्त करते हुए पर्याप्त संशोधन एवं परिवर्तन किए गये।

तासी के ग्रन्थ के आधार- ग्रन्थ (पाश्चत्य विद्वानों की रचनाएं) *

1. एनेल्स ऑफ राजपूताना- टॉड
2. हिस्टरी ऑफ द सिक्ख – कनिंघम
3. एशियाटिक रिसर्चेज- विल्सन
4. ईस्टर्न इंडिया डिस्क्रिप्टिव कैटेलोग ऑफ बंगाली बुक्स- मौंटगोमरी मार्टिन
5. एशियाटिक रिसर्चेज- मैकेंजी कलेक्शन – विल्सन
6. हिस्टरी ऑफ द लिटरेचर एंड द माईथोलोजी ऑफ द हिन्दूज
7. मैकेंजी की हस्तलिखित पोथियाँ
8. एशियाटिक जर्नल – राजस्थान का इतिहास- टॉड

9. बंगाल की एशियाटिक सोसायटी के संस्कृत ग्रंथों से बहुत से उद्धरण

10. जर्मन एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल, लंदन की एशियाटिक सोसायटी जैसी संस्थाओं से निकलने वाले शोध ग्रन्थ

11. द सैसी कृत 'जूर्ना द सावाँ'

तासी ने हिंदी के जिन ग्रंथों को आधार रूप में उपयोग किया वे निम्न हैं

1. कवि वचन सुधा- भारतेंदु द्वारा निकाले जानी वाली मासिक पत्रिका।

2. कवि चरित्र – जनार्दन द्वारा मराठी में लिखित।

3. कवि प्रकाश- शीर्षक के अनुसार हिंदी का तजकीरा।

4. काव्य-संग्रह- हिंदी अथवा ब्रजभाषा कविताओं का संग्रह, बम्बई के हीराचंद द्वारा।

5. दूल्हाराम ने अपनी साधुता के लिए प्रसिद्द व्यक्तियों की प्रशंसा में अनेक छंद लिखे हैं। जिनमें से बहुत से हिन्दी काव्य के रचयिता है।

6. वार्ता- वल्लभ और उनके प्रथम शिष्यों के सम्बन्ध में जो निस्संदेह वल्लभ की तरह हिन्दी की धार्मिक कविताओं के रचयिता थे।

7. भक्त-चरित्र हिंदू संतों की गाथा। जो सामान्यतः धार्मिक भजनों व गीतों के रचयिता हैं जैसे वीं शताब्दी के हिन्दी कवि और कई रचनाओं के रचयिता उद्धव।

8. भक्तमाल- इसके कई संकलन है। इन विभिन्न संकलनों में मूल 'छप्पय' नामक छंद है। ये छंद वैष्णव संतों के सम्बन्ध में है। ये हिन्दुई या पुरानी हिन्दी के लोकप्रिय धार्मिक भजनों या गीतों के रूप में हैं, अत्यंत प्रसिद्द हैं और नाभाजी की देन हैं। उन्हें नारायणदास ने सुधारा और पहले कृष्णदास ने फिर बहुत बाद को प्रियादास ने विकसित किया।

9. राग- कल्पद्रुम – कृष्णानन्द व्यासदेव उपनाम रामसागर, हिन्दी के लोकप्रिय गीतों का वृहत संग्रह।

10. सभा-विलास- हिन्दी कविताओं का संग्रह, प0 धर्मनारायण जमीर कृत

11. सुजान चरित्र – सूदन कृत, दो सौ से अधिक हिन्दुई कवियों।

तासी ने हिन्दुई उस हिंदी को कहा था, जिसे हिंदू बोलते थे और 'हिन्दुस्तानी' से उनका अभिप्राय उस हिंदी से था जिसे मुसलमान बोलते थे। जिसे उत्तरी भारत में उर्दू और दक्षिणी भारत में दक्खिनी कहा जाता था। उर्दू के प्रोफेसर होने के नाते तासी का झुकाव स्वाभाविक रूप से उर्दू के कवियों के साथ था। इसी कारण उन्होंने अपने ग्रन्थ में अधिक उर्दू के कवियों को स्थान दिया। तासी के इस ग्रन्थ में 738 कवि और रचनाकार थे जिसमें हिंदी के मात्र 72 कवि थे। डॉ0 लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने इसके हिंदी संबंधी अंश का अनुवाद किया। जो सन 1952 में 'हिन्दुई साहित्य का इतिहास' नाम से हिन्दुस्तानी अकादमी इलाहाबाद से प्रकाशित हुई। इसमें 358 रचनाकारों का विवरण दिया गया है। माना जाता है कि जिसमें शुद्ध साहित्य के केवल 220 लेखक हैं। इसमें 160 महत्वपूर्ण साहित्यकार हैं और 60 नगण्य कोटि के हैं। डॉ0 वार्ष्णेय ने इसको 'हिंदी साहित्य की दीर्घकालीन गाथा' को सूत्रबद्ध रूप में स्पष्ट करने का सर्वप्रथम प्रयास कहा है।

'हिन्दुई' और 'हिन्दुस्तानी' भाषा के बीच अंतर निर्धारित करने के बाद भी तासी ने कुछ व्यवहारिक कठिनाइयों के कारण साहित्यिक प्रवृत्तियों आदि का निरूपण नहीं किया है। इस बात का उल्लेख भी उन्होंने भूमिका में किया है। 'फ्रेंच वैदुष्य'[1] एवं उपनिवेश बनाए जाने वाले देश को परिभाषित करने की दृष्टि तासी के इतिहासग्रन्थ में देखी जा सकती है। अपने शोध के क्रम में मैंने तासी के इतिहास-ग्रन्थ का लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय द्वारा अनुवादित हिंदी के कवियों का संग्रह- 'हिन्दुई साहित्य का इतिहास' लिया है। गौरतलब है कि इस ग्रन्थ में हिंदी के आलावा उर्दू के कुछ कवियों का जिक्र भी हो गया है। यहाँ तक कि भारत की अन्य भाषाओं के रचनाकारों को भी

उन्होंने इसमें समेट लिया है। जैसे मराठी, संस्कृत, बंगला एवं गुजराती। जिनके उदाहरण निम्न हैं-

उर्दू के कवि

1. उमेद सिंह – गीता के उर्दू अनुवादक।
2. चिरंजीलाल- जिन्होंने शरीय उत्तलीम नाम के उर्दू ग्रंथों की रचना की है।
3. जमीर- यह मूलतः प्रकाशक हैं।
4. (मिर्जा काजिम अली) जवाँ – यह फोर्ट विलियम कॉलेज कलकत्ता में उर्दू लेखक थे, एवं इन्होंने कई रचनाओं का उर्दू में अनुवाद किया है।
5. नसीम- गुलजारे नसीम एवं अलिफ़ लैला नामक ग्रंथों के रचयिता।
6. फरहत- प्रेमसागर एवं तुलसी के रामायण का उर्दू में अनुवाद।
7. मिर्जा मेहदी- अनवारे सुहेली का बागे बहार नाम से अनुवाद करने वाले।
8. मिर्जामी
9. मजहर अली खां विला- फोर्ट विलियम कॉलेज में थे। लल्लूलाल जी के साथ उर्दू ग्रंथों का सहयोग करते थे।
10. लक्ष्मणप्रसाद या लक्ष्मणदास – बरेली कॉलेज के उर्दू के लेखक।
11. लालजी दास – भक्तमाल का उर्दू में रूपांतरण करने वाले।

मराठी के कवि

हिन्दुस्तानी साहित्य का अध्ययन करते समय तासी ने ऐसे बहुत से कवि-वृत्त संग्रह का उपयोग किया जिससे हिंदुस्तान के साहित्य का एक इतिहास लिखा

जाए और पाश्चात्य जगत हिन्दुस्तान की 'जनता की चित्तवृत्तियों' से परिचय हो सके। ऐसे में उन्होंने जनार्दन के द्वारा लिखा गया 'कवि चरित्र' जो कि एक मराठी की रचना है, उसका उपयोग भी किया। इस ग्रन्थ में नामदेव एवं त्रिलोचन को छोड़कर सभी कवि मूल रूप से मराठी भाषा के हैं। इस ग्रन्थ में काल-क्रम के शक-संवत् का प्रयोग है। इस ग्रन्थ से लिए गये कवि हैं-

उद्धव चिद्धन, एकनाथ स्वामी, कान्हा पाठक, चंगदेव, चोकमल, जनार्दन रामचंद्र जी, जाना बेगम, ज्ञानदेव, तुकाराम, दामाजी पंत, नाथ, नामदेव, निंबराजा, निवृत्तिनाथ, प्रेमाबाई, बोघले भाव, भैरवनाथ, मदरल भट्ट, माधव मुनीश्वर, महीपत, मुक्ताबाई, मुकुंदराजा, मुक्तेश्वर, मोरोपंत, रघुनाथ पंडित, रामजोशी, वामन पंडित, श्रीधर स्वामी, सोमंदेव, हेमंत पंत, त्रिलोचन।

संस्कृत के कवि

1. पुष्पदंत – महेंद्र श्रोत की रचना ।
2. भर्तृहरि – वैराग्य शतक, नीति शतक, श्रृंगार शतक,
3. रणकुम्भा – गीत-गोविंद पर संस्कृत में टीका लिखी है,
4. रूप और सनातन- दोनों भाई थे। तासी ने उन्हें एक साथ उद्धृत किया है और ब्रज भाषा कवि माना है।
5. जयदेव- गीत-गोविंद
6. शंकर- आचार्य

पाठ्यपुस्तक लेखक

तासी जब हिन्दी साहित्य के इतिहास का प्रणयन कर रहे थे उस समय तक भारत में आधुनिक शिक्षा की नींव डाली जा चुकी थी। और पश्चिम से प्रभावित भारत में भी ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा दी जाने लगी थी। फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना से भारत में पाठ्य-पुस्तकें तैयार की जा रहीं थीं। इसी क्रम में भारत का इतिहासलेखन भी पश्चिमी लेखकों द्वारा किया जा रहा था। तासी ने अपने ग्रन्थ में अपने समकालीन एवं अन्य लेखकों की पाठ्य-पुस्तकों, जो ज्ञान की भिन्न-भिन्न शाखाओं से जुड़ी हुईं थीं, को भी साहित्य के अंतर्गत ही समेट लिया है। जिनका साहित्य के इतिहास में जिक्र करने का कोई औचित्य नहीं था-

1. अजीम बख्त- 'लोगेरिज्म' और 'सिलेबस ऑफ नेचुरल फिलासफी'। हिन्दी सिलेबस के रचनाकार।
2. कनारदास- गद्य में 'स्नेह-लीला' के रचयिता, स्कूलों में पाठ्य ग्रन्थ।
3. बाबू कालीचरण- स्त्री धर्म संग्रह, गणित सार के लेखक।
4. कुञ्ज बिहारीलाल- सुलभ बीजगणित, रेखामिति तत्व, त्रिकोणमिति, कल विद्द्योदाहरण, बाल विद्यासार, खगोल विनोद, बीजात्मक रेखागणित के रचनाकार।
5. मुंशी किसनलाल- भूगोल सार
6. पंडित कृष्णदत्त- बुद्धि फलोदी के रचनाकार
7. कृष्णराव- 'पालिग्लैठ इंटरलाइनर, बीइंग द फास्ट इंस्ट्रक्टर इन इंग्लिश'
8. गोपाल- शिक्षा चातुर्य।
9. घासीराम- भूगोल दीपिका और संक्षेप 'इंग्लिस्तान का इतिहास'

10. चिंतामणी- ब्रजभाषा में लिखे एक ग्रन्थ के रचयिता।

11. पंडित चुन्नालाल- इतिहास तिमिरनाशक प्रकाश नाम के कोश के रचयिता।

12. पंडित ठाकुरदास- गणित प्रश्नावली।

13. देवी दीन- भूगोल जिला इटावा के रचयिता।

14. बापू देव शास्त्री- बीजगणित, व्यक्तगणित अभिधान, त्रिकोणमिति, भूगोल वर्णन, भूगोल सार।

15. बालकृष्ण शास्त्री- 'भूगोल विद्या' या भूगोल वृत्तांत के अंग्रेजी से हिन्दी अनुवाद करने वाले।

16. बाल गंगाधर शास्त्री- बाल व्याकरण, नीतिकथा, सूर संग्रह, भूगोल विद्या के रचयिता।

17. पंडित बेनीराम- सागर का भूगोल, हिन्दी-उर्दू दोनों में।

18. पंडित मगनलाल- मुव्तदी की पहली किताब, फर्रुखाबाद और बद्रीनाथ की कहानी के रचयिता। इन्होंने 'गोधन शीतला के टीका देने का वर्णन' नामक पुस्तक हिन्दी, उर्दू दोनों में लिखी।

19. मथुराप्रसाद मिश्र- बाह्य प्रपंच दर्पण, लघु कौमुदी, तत्वकौमुदी, अंग्रेजी, उर्दू, हिन्दी में त्रैमासिक शब्दकोश और वृहत चाणक्य ग्रंथों की रचना की थी।

20. मनोहरलाल- बालोपदेश के रचनाकार

21. पंडित मोहनलाल- बीजगणित, रेखागणित, सिद्धिफलोदय, सिद्धि पदार्थ विज्ञान, खुलासा गवेर्नमेंट गजट-1840-49, गणित निधान, सार-वर्णन, सिद्धि परीक्षा ज्ञान, पदार्थ विद्या आदि के रचयिता।

22. रतनलाल- भूगोल, इतिहास, अंग्रेजी शीर्षक वाले तीन हिदी ग्रंथों के रचयिता।

23. रत्नेश्वर पंडित- 'ए जर्नी फ्रॉम सीहोर टू बाम्बे इन अ सीरीज ऑफ लेटर्स' के लेखक

24. रामकिशोर- पब्लिक रिवेन्यु विद द अब्स्ट्रेक्ट, ऑफ द रेवेन्यू ला'

25. रामकिशन पंडित- स्त्री शिक्षा के लेखक, गद्य-पद्य दोनों में ग्रन्थ

26. रामजसन – भूगोल चन्द्रिका, हितोपदेश का रूपांतरण, तुलसीकृत रामायण के लेखक(शब्दार्थ सहित), अनुवादक, प्रकाशक

27. रामदया या रामदयाल- वृत्तांत वफादार सिंह और गद्दार सिंह, गणितसार, गणित प्रकाश के लेखक

28. रामरतन शर्मा- वाकयाते हिंद नामक उर्दू ग्रन्थ, आउटलाईन ऑफ जाग्रफी एण्ड एस्ट्रोनामी के हिन्दी अनुवादक

29. राम सरनदास – हिन्दी उर्दू दोनों पाठ्य-ग्रंथों के रचयिता जो 'राम सरनदास सीरीज' कही जाती है। अक्षय अभ्यास, फैलावट या गणित प्रकाश, मापतोल और पटवारियों की किताब। इनके इन चार ग्रंथों का उल्लेख हुआ है।

30. मीर वजीर अली- दिल्ली कॉलेज में अंग्रेजी के प्रोफेसर, गोल्डस्मिथ की पुस्तक का 'तर्जुमा तारीखे यूनान' नाम से अनुवाद किया। मिल की अलोटमेंट ऑफ पोलिटिकल इकोनॉमी का भी अनुवाद किया और पहाड़े की पुस्तक लिखी।

31. शंकरदास – सिक्खों के इतिहास के रचयिता।

32. मुंशी श्रीप्रसाद- जगत-भूगोल के रचयिता, उर्दू के लेखक।

33. मौलवी सफ़दर अली- जबलपुर में स्कूलों के इंस्पेक्टर, अक्षरावली के रचयिता।

34. सुन्दरलाल- बारात महातम के रचयिता।

35. सुखदयाल – व्यापारियों की पुस्तक के लेखक।

36. पंडित हीरालाल- इंग्लिशतान का इतिहास के लेखक।

ज्योतिष एवं वैद्यक ग्रंथों के रचयिता

1. ओंकार भट्ट- ए कम्पेरिजन ऑफ दि पुरानिक एण्ड सिद्धांतिक सिस्टम ऑफ एस्ट्रोनोमी विद दैट ऑफ कापरनिकस

2. कृष्ण, जायसी, गंगाधर, महानंद, महेश- अकबर ने अबुल फजल फ़तह उल्ला के साथ-साथ ये लोग भी अनुवादक थे। ग्रन्थ का नाम- नवीन नक्षत्र तालिका है।

3. पंडित छगनलाल- पंचांग के रचयिता।

4. अमर सिंह- 'अमर- विनोद' के रचनाकार, संस्कृत से अनूदित।

5. जनार्दन भट्ट, गोस्वामी- वैद्य रत्न के लेखक।

6. बाबू फ़तह नारायण सिंह- वैद्यामृत, संस्कृत ग्रन्थ- सिद्धन्त के आधार पर 'मेघमाल' नामक ज्योतिष ग्रन्थ।

7. भट्ट जी- वैद्य दर्पण,

8. सीताराम- चिकित्सा संबंधी 'दिल लगन' ग्रन्थ के रचयिता।

संपादक-प्रकाशक

1. अली मौलवी- 'ज्ञान दीपक' , यह हिन्दी, बंगला, फारसी और अंग्रेजी में निकलता था।
2. गुलाब शंकर- 'तत्वबोधिनी' साप्ताहिक, बरेली।
3. गोविंद रघुनाथ बत्ते – हिन्दी 'बनारस अखबार, और उर्दू बनारस गजट
4. जवाहरलाल हकीम- इटावा से प्रजाहित (हिन्दी), मोहब्बत रिआया(उर्दू) पीपुल्स फ्रेंड (अंग्रेजी) निकालते थे।
5. जयदत्त पंडित- नैनीताल के 'समय विनोद' पाक्षिक के संपादक। गोपीचंद नामक ग्रन्थ के रचयिता।
6. पालिराम- अमीर अहमद के उर्दू पत्र 'नजमुल अखबार' के हिन्दी रूपांतरण 'विद्यादर्श' के संपादक, मेरठ पाक्षिक। उर्दू 'नैरंगे नजर' का बरन चन्द्रिका नाम से हिन्दी में अनुवाद।
7. बसीशरनाथ – हिन्दी-उर्दू साप्ताहिक पत्र- रतन प्रकाश के संपादक, रतलाम।
8. प0 मुकुंदराम- विज्ञान सम्बन्धी पत्र- 'ज्ञान-प्रदायिनी पत्रिका' के संपादक
9. प0 शिवनारायण- आगरे के उर्दू पत्र- 'मुफीदेय खलईक' उसके हिन्दी रूपांतरण 'सर्व उपकारी' और अजमेर के 'जग्लाभ चिन्तक' के सम्पादक थे।
10. संस्कृत और हिन्दी में षट पंचासिका।
11. श्री किशन – आगरे से प्रकाशित 'पाप मोचन' हिन्दी पाक्षिक के संपादक।
12. मुंशी सदा सुखलाल – बुद्धि प्रकाश और उसके उर्दू रूपांतरण 'नूरूल अबसार' साप्ताहिकों के संपादक।

विभिन्न ग्रथों के संपादक-

1. कृष्णलाल- राधा जी की बारहमासी, रामचन्द्र की बारहमासी।
2. बाबू गोकुलचंद- जुगल किशोर विलास, पद्माभरण, हास्यार्णवनाटक, भर्तृहरि तीनों शतक, उपवन रहस्य, षट ऋतु वर्णन, रघुनाथ शतक के सम्पादक।
3. योगध्यान मिश्र- प्रेमसागर के एक संस्करण के सम्पादक।
4. रामस्वरूप – मीर वली मुहम्मद की दो कविताएँ – कृष्ण जी का जन्म लीला और बालपन बाँसुरी लीला।
5. बाबू अविनाशी लाल – शकुंतला नाटक का सम्पादन
6. राजा दुर्गाप्रसाद शाद- पांच रत्न, लाल चन्द्रिका, सिंहासन बतीसी के संपादक,
7. हरगोविंद- कीर्तनावली नाम से विभिन्न ईसाई कवियों द्वारा रचित धार्मिक कविताओं के संकलनकर्ता।

तासी के ग्रन्थ की भूमिका : तासी की विचारधार के कोण से

अपने इतिहास ग्रन्थ के प्रथम संस्करण में तासी ने ब्रिटेन की साम्राज्ञी को पुस्तक समर्पित की है। और उनके शब्दों से उनके प्राच्यवादी दृष्टिकोण की साफ़ झलक दिखाई देती है। वे लिखते हैं-" मैं साम्राज्ञी से एक ऐसा ग्रन्थ समर्पित करने का सम्मान प्राप्त करने की प्रार्थना करूं जिसका संबंध भारतवर्ष आपके राजदंड के अंतर्गत आए हुए इस विस्तृत और सुन्दर देश, जो इतना खुशहाल कभी नहीं रहा जितना कि वह इंग्लैंड के आश्रित होने पर है।"[2] तासी की पंक्तियों का अभिप्राय है कि भारत पहले एक बहुत ही असभ्य, अव्यवस्थित और पिछड़ा हुआ राज्य था। विक्टोरिया के शासन के पश्चात यहाँ न तो देशी राज्यों का अत्याचार व्याप्त है और न ही लूट का भय। आगे वे विक्टोरिया की तुलना रजिया सुल्तान से भी करते हैं।

तासी हिंदी साहित्य का इतिहास लिख रहे थे और अपने इस इतिहासग्रन्थ को उन्होंने 'इतिहास' संज्ञा से भी विभूषित किया है। साहित्य का इतिहास जिस भाषा के साहित्य पर आधारित होता है, उस भाषा के विकास पर भी इतिहासकार की पकड़ मजबूत होनी चाहिए। तासी के ग्रन्थ को देखते हैं तो हमें लेखक इस कसौटी पर खरा दिखाई देता है। तासी ने हिन्दुस्तानी भाषा का पर्याप्त ज्ञान पाठकों को दिया है। ध्यातव्य है कि लेखन की मंशा इस ग्रन्थ को हिन्दुस्तान के बाहर के विद्वानों के लिए हिन्दुस्तानी भाषा के विकास से अवगत कराने की थी। इसी कारण लेखक ने भाषा के इतिहास और विकास का भी पर्याप्त विवेचन किया है। तासी हिन्दुस्तानी भाषा के कालजयी महत्व को बताते हुए लिखते हैं- "बोलचाल की भाषा के रूप में, हिन्दुस्तानी को समस्त एशिया में कोमलता और विशुद्धता की दृष्टि से जो ख्याति प्राप्त है वह अन्य किसी को नहीं है।"[3] तासी आगे अरबी, फ़ारसी और तुर्की भाषा की विशेष बातों को लिखते हैं और जिसमें तीनों के गुण मिलते हैं उस भाषा की तारीफ़ करते हुए बताते हैं- "जिस भाषा ने समाज की सामान्य परिस्थितियों में अन्य तीनों के गुण ग्रहण किया हैं वह हिन्दुस्तानी है, जो बोलचाल की भाषा और व्यावहारिक प्रयोग के, जिनके साथ उनका विशेष संबंध स्थापित किया जाता है रूप में उनसे बहुत कुछ मिलती जुलती है। वह वास्तव में भारत की सबसे अधित अभिव्यंजना शक्ति संपन्न और सबसे अधिक शिष्ट प्रचलित भाषा है, यहाँ तक कि उसके सामान्य प्रयोग का कारण जानना अधिक लाभदायक है। ....निस्ससंदेह वह शीघ्र ही राजनीतिक पत्र व्यवहार में भी उसका स्थान ग्रहण कर लेगी।"[4] लेखक ने अपने ग्रन्थ में भाषागत विवेचन विस्तार से किया है और उनके ज्ञान से पता चलता है कि हिन्दुस्तानी ही श्रेष्ठ भाषा है। तासी हिंदी की अपेक्षा उर्दू के लेखकों को अधिक महत्व देते हैं। उन्होंने उर्दू ग्रन्थ के लेखकों, संपादकों की सूचनाएं भी अधिक दी हैं।

ध्यातव्य है कि तासी जिस समय अपने इतिहासग्रन्थ का प्रणयन कर रहे थे उस समय तक हिंदी- उर्दू भाषा का स्पष्ट ऐतिहासिक विभाजन, लिपि विवाद, और सबसे

बढ़कर साम्प्रदायिक अलगाववाद नहीं हुआ था। हिन्दुई से उनका अभिप्राय हिन्दुओं में बोली जाने वाली हिंदी से है और जिसका आधार संस्कृत है तथा हिन्दुस्तानी से उनका अभिप्राय मुसलमानों में बोली जाने वाली हिंदी से है। जिसका आधार फ़ारसी-अरबी है। हिन्दुस्तानी के भी दो रूप हैं एक उत्तरी भारत के मुसलमानों द्वारा बोली जाने वाली हिन्दुस्तानी, जो उर्दू कहलाती है, दूसरी दक्षिण भारत में मुसलमानों द्वारा बोली जाने वाली हिन्दुस्तानी जो दक्खिनी कहलाती है ।

गार्सा द तासी एक विदेशी थे। उसका जन्म फ़्रांस के प्रसिद्द बंदरगाह मार्सेन में सन 1794 ई0 में हुआ था। सामान्य शिक्षा प्राप्त करने के बाद वह पेरिस आ गए। यहाँ उसने अरबी और तुर्की भाषाओं का अध्ययन प्रारंभ किया अरबी और तुर्की भाषा के साथ ही उन्होंने फारसी का भी अध्ययन प्रारम्भ किया। प्राच्य विद्या ने ही उसे उर्दू की ओर आकर्षित किया। उन्होंने उर्दू में ऐसी दक्षता हाँसिल कर ली कि पेरिस के प्राच्य महाविद्यालय में हिन्दुस्तानी जबान के एक प्रोफ़ेसर के स्थान की व्यवस्था की गई और इस स्थान पर गार्सा द तासी को नियुक्त किया गया। और वे पेरिस विश्वविद्यालय में उर्दू के प्रोफेसर बन गए।

गार्सा द तासी फ्रांस के एक राजकीय और विशेष स्कूल में जीवित पूर्वी भाषाओं के प्रोफेसर और फ़्रांसीसी इंस्टीट्यूट ,पेरिस, लन्दन, कलकत्ता, मद्रास और बम्बई की एशियाटिक सोसायटियों, सेंट्स पीटर्सबर्ग की इम्पीरियल एकेडमी ऑफ साइंसेज, म्यूनिख, लिस्बन और ट्यूरिन की रॉयल एकेडमियों, नार्वे, उप्सल और कोपेनहेगेन की रॉयल सोसायटियों, अमेरिका के ओरिएंटल, लाहौर के 'अंजुमन' तथा अलीगढ़ इंस्टीट्यूट के सदस्य थे। उन्हें 'नाइट ऑफ द लिजियन ऑफ ऑनर'(फ़्रांस), 'स्तर ऑफ द साऊथ पोल' आदि की उपाधियों से भी सम्मानित किया गया था।

उन्होंने भाषा पर विचार करते हुए पूरे उत्तर भारत की भाषा और साहित्य पर बहुत गहराई से विचार किया है। हिन्दुस्तानी के काव्यात्मक महत्व को बताते हुए वे लिखते हैं-"हिन्दुस्तानी साहित्य का एक काव्यात्मक महत्व है, जो न तो किसी दूसरी भाषा से

हीन है, और न तो वास्तव में कम है। सच तो यह है कि प्रत्येक साहित्य में एक अपनापन रहता है जो उसे आकर्षणपूर्ण बनाता है, प्रत्येक पुष्प की भांति जिसमें, एक फारसी कवि के कथनानुसार, अलग अलग रंग और बू रहती है।'.....इसके अतिरिक्त मेरे विचार से हिन्दुस्तानी रचनाएँ फारसी की रचनाओं (प्रायः जिनकी विशेषता अत्याधिक अतिशयोक्ति रहती है) से अधिक स्वाभाविक होती हैं। वास्तव में इस साहित्य का स्थान फारसी की अतिश्योक्तियों और संस्कृत की उच्च कोटि की सरलता के बीच में है।"[5] आगे तासी बताते हैं कि जिस प्रकार परंपरा का निर्वाह करते हुए उर्दू के कवियों ने फ़ारसी छंद और फ़ारसी भाषा का प्रयोग किया उसी तरह लुई चौदहवें के समय में बहुत से प्रसिद्द लेखक लेटिन के कुछ अंश अपनी कविताओं में रख कर स्वयं को उसी तरह साबित करने की कोशिश करते हैं।

ध्यातव्य है कि जिस समय तासी अपने इतिहासग्रन्थ का प्रणयन कर रहे थे। उस समय हिंदी-उर्दू का ऐतिहासिक विभाजन नहीं हुआ था। उस समय हिंदी नवजागरण की शुरुआत युक्त प्रान्त में नहीं हुई थी। तासी का इतिहास ग्रन्थ ग्रेट ब्रिटेन और आयरलैंड की ओरिएंटल ट्रांसलेशन कमिटी की ओर से प्रकाशित हुआ था। इस संस्था की स्थापना 1828 में इंग्लैंड के तत्कालीन बादशाह विलियम चतुर्थ के संरक्षण में लंदन में हुई थी। उक्त ग्रन्थ फ़्रांस के राजकीय मुद्रणालय में छपा था।

तासी के ग्रन्थ की भूमिका से पता चलता है कि ऐसा नहीं था कि उन्हें आधुनिक इतिहासलेखन की मानक पद्धति का ज्ञान नहीं था। इसके बाद भी साहित्य के इतिहासलेखन में काल-विभाजन, प्रवृत्ति निरूपण, रचनाकारों को काल-क्रम से व्यवस्थित करने की वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण उन्होंने नहीं किया। दरसल कुछ व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण उन्होंने इतिहास लेखन की पद्धति नहीं अपनाई। बकौल तासी-" मैंने यह पद्धति ग्रहण की है। यद्यपि शुरू में मेरा विचार काल-क्रम ग्रहण करने का था: और मैं यह बात छिपाना नहीं चाहता कि, यह क्रम अधिक अच्छा रहता, या कम से कम जो शीर्षक मैंने अपने ग्रन्थ को दिया है उसके अधिक उपयुक्त

होता है; किन्तु मेरे पास अपूर्ण सूचनाएं होने के कारण उसे ग्रहण करना कठिन ही था। वास्तव में जब मैं उसके सम्बन्ध में कहना चाहता हूँ, मौलिक जीवनियाँ हमें यह नहीं बताती कि उल्लिखित कवियों ने किस काल में लिखा, और यद्यपि उनमें प्रायः काफी अवतरण दिए गये हैं, तो भी उनसे शैली के सम्बन्ध में बहुत अधिक विचार नहीं किया जा सकता। क्योंकि प्रतिलिपि करते समय उनमें ऐसे पाठ संबंधी परिवर्तन हो गये हैं जो उन्हें आधुनिक रूप प्रदान कर देते हैं। चाहे कभी-कभी वे प्राचीन ही हों। जहाँ तक हिन्दुई लेखकों से सम्बन्ध है, उनकी भी अधिकांश रचनाओं की निर्माण तिथियाँ निश्चित ही नहीं हैं। यदि मैंने काल-क्रम वाली पद्धति ग्रहण की होती। तो अनेक विभाग स्थापित करने पड़ते : पहले में मैं उन लेखकों को रखता जिनका काल अच्छी तरह ज्ञात है; दूसरे में उनको जिनका काल संदेहात्मक है। अंत में तीसरे में, उन्हें जिनका काल अज्ञात है। यही विभाजन उन रचनाओं के लिए करना पड़ता जिन्हें इस ग्रन्थ के प्रधान अंश में स्थान नहीं मिल सका। अपना कार्य सरल बनाने और पाठक की सहूलियत दोनों ही दृष्टियों से मुझे यह पद्धति छोड़ने के लिए बाध्य होना पड़ा।"[6]

तासी के ग्रन्थ को आधार बना कर किशोरीलाल गुप्त ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य के इतिहासों का इतिहास' में हिन्दी साहित्य का इतिहास प्रस्तुत किया है। जिसमें उन्होंने काल-विभाजन कर के 'हिन्दुई साहित्य का इतिहास' में संकलित सभी कवियों को काल-क्रम की दृष्टि से रखा है और उनके काल विभाजन है।

तासी ने अपने इतिहास में शंकराचार्य को हिन्दी का प्रथम कवि समझा है- वह भूमिका में लिखते हैं कि- " यह निश्चित करना कठिन है कि हिन्दी के सबसे अधिक प्राचीन कवि किस समय हुए। तो भी मैंने 'अमर-शतक' द्वारा ज्ञात संस्कृत कवि शंकराचार्य का उल्लेख किया है जो नवीं शताब्दी में रहते थे और जिन्होंने कुछ हिन्दी

कविताएँ लिखी प्रतीत होती हैं।"... "शंकराचार्य ने ईसवी सन की नवीं शताब्दी में नवीनता के प्रवर्तक वैष्णवों के विरुद्ध कट्टर हिंदुत्व और शैव मतों को शक्ति प्रदान करना चाहा और सन्यासी ब्राह्मणों का एक मठ तैयार किया। किन्तु इस प्रसिद्द व्यक्ति और प्रख्यात संस्कृत लेखक का मैं यहाँ केवल इसलिए उल्लेख कर रहा हूँ क्योंकि उसने हिन्दी में लिखा प्रतीत होता है।"[7] दरअसल शंकराचार्य हिन्दी के कवि हैं ही नहीं। और ना ही उनकी रचनाएँ हिन्दी में है। उनकी सभी रचनाएँ संस्कृत में हैं। कवि चंद- तासी ने इनके बारे में विस्तृत रूप में लिखा है।

2. 2. शिवसिंह सरोज

रॉयल एशियाटिक सोसायटी बनने, पुरातात्विक खोजें होने और अतीत के संस्कृत ग्रंथो का पता लगने के साथ ही अंग्रेजी इतिहासलेखन की पद्धति के प्रभाव से भारत में इतिहासलेखन की जो आधुनिक पद्धति शुरू हुई उसने पुनरुत्थानवादी प्रक्रिया को जन्म दिया। अंग्रेजों की विधि व्यवस्था ने भी वैसा ही प्रभाव डाला था जैसा कोई सर्वसत्तावादी सांगठनिक धर्म डालता है। व्यक्ति ब्रिटिश सत्ता के अधीन था। ब्रिटिश सत्ता भी विधि के अधीन थी। साम्राज्यवादी दौर में किसी सभ्यता का रिश्ता ग्राहक तैयार करने और उपयोगी ज्ञान का उद्देश्य उपभोक्ता बनाने से था। यह ज्ञान विद्यालयों, पाठ्यपुस्तकों और सुधारवादियों की बुक सोसायटी के माध्यम से साक्षर हो रही प्रजा के बीच संचारित हो रहा है। शिक्षा और नौकरशाही से मिलकर एक मध्यवर्ग बनना शुरू कर दिया था और यह मध्यवर्ग दीन और दुनिया के द्वंद्व में अपना रास्ता ढूँढना चाहता था। ऐसे समय में मौलिकता एवं मूल लेखक पर ऐसा जोर पहले की साहित्य परंपरा में नहीं मिलता।

शिवसिंह सरोज भी ऐसे ही काल से उत्पन्न एक ग्रन्थ का प्रमाण है। रचनाकार ने इस ग्रन्थ पर अपने स्वत्वाधिकार की घोषणा 'बनाया' शब्द लिख कर की है। 'शिवसिंह सरोज' जिसको श्री सेंगर वन्शावतास श्रीमन्महाराजकुमार ठाकुर रंजीत सिंह सेंगर तालुकेदार कांथा जिले उन्नाव के पुत्र शिवसिंह इंस्पेक्टर पुलिस ने बनाया। यह पहली

बार 1878 ई. स. में नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित हुआ। कवियों के नाम, जीवन चरित्र, सन संवत् और उनकी कविता इतिहास की एक ख़ास धारणा का संकेत करती है। इतिहास की इस अवधारणा में व्यक्ति और घटना निरंतर आगे की तरफ गतिशील तिथि, वार, संवत में घटित होने वाले काल के साक्ष्य से सिद्ध होते हैं। स्वयं लेखक ने ग्रन्थ लिखने की प्रेरणा के बारे में बताया है कि- "संवत1933 में हमने दो एक ग्रन्थ भाषा कवि लोगों के जीवन चरित्र विषयक ऐसे देखे जिन्हों में मतिराम आदि ब्राह्मणों को ग्रंथकर्ता ने लिखा है कि वे महापात्र भाट असनी के हैं और इसी भांति बहुत सी बातें देख हमसे चुप नहीं रहा गया। हमने सोचा कि अब कोई ऐसा ग्रन्थ बनाया चाहिए जिसमें प्राचीन और नवीन कवि लोगों के जीवन चरित्र सहित सन संवत् और जाति और निवास और कविताई के ग्रंथों समेत विस्तारपूर्वक होवें।"[8] शिवसिंह सरोज के आठवें संस्करण का सम्पादन डॉ0 त्रिलोकीनाथ दीक्षित ने किया। मैंने अपने शोध विश्लेषण के लिए किशोरीलाल गुप्त द्वारा संपादित संस्करण लिया है जो सातवें संस्करण के बाद का है।

नलिन विलोचन शर्मा ने इसकी ऐतिहासिकता के बारे में लिखा है कि "जहाँ तक साहित्येतिहास के रूप में सरोज के महत्व का सम्बन्ध है यह ग्रन्थ सही अर्थों में कवि वृत्त संग्रह भी नहीं कहा जा सकता।"[9]

शिवसिंह सरोज के ऐतिहासिक महत्व को रेखांकित करते हुए किशोरीलाल गुप्त अपने सरोज सर्वेक्षण की भूमिका में परिचय देते हुए लिखते हैं-" शिवसिंह सरोज के नाम से हिन्दी के प्रायः सभी साहित्य सेवी परिचित हैं, क्योंकि जब भी किसी प्राचीन कवि के संबंध में कोई जानकारी किसी शोधी विद्वान अद्वारा प्रस्तुत की जाती है तब कवि के सम्बन्ध में सरोज ने क्या लिखा है यह उल्लेख सर्वप्रथम किया जाता है, पर इसके स्वरूप से सभी का परिचय नहीं है कुछ लोगों को यह भी भ्रम हो सकता है कि यह संभवतः हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास है। बात ऐसी नहीं है । सरोज एक काव्य संग्रह है।"[10]

शिवसिंह सरोज के आधार ग्रन्थ-

1. कालिदास कवि का हजारा
2. लाला गोकुल परसाद कवि बलिरामपुरी कृत दिग्विजय भूषण नाम संग्रह
3. तुलसी कवि कृत कविमाला नाम संग्रह
4. राजा सुब्बासिंह ओयल कृत विद्वन्मोदतरंगिनी नाम संग्रह
5. बलदेव कवि बघेलखंडी कृत सतकविगिराविलास नाम-संग्रह
6. बाबू हरिश्चंद बनारसी कृत सुन्दरी तिलक नाम संग्रह
7. ठाकुर प्रसाद कवि किसुनदासपुरी के रस चंद्रोदय नाम संग्रह
8. मातादीन मिश्र कृत कबित्त रत्नाकर
9. महेशदत्त पंडित कृत काव्य भाषा नाम संग्रह
10. कृष्णानंद व्यासदेव स्वामी कृत राग सागरोद्भव राग कल्पद्रुम
11. टाड साहेब रेजिडेंट राजपुताने कृत टाड राजिस्तान नाम तवारीख
12. कल्हण, जोनराज इत्यादि कृत संस्कृत काश्मीर राज तरंगिणी औ रघुनाथ मिश्र विद्याधर कृत संस्कृत दिल्ली राजतरंगिणी राजावली ग्रन्थ
13. तुलसीदास कृत उर्दू भक्तमाला
14. दलसिंह, किशोर, ग्वाल, निपट निरंजन, कमंच इत्यादि के संग्रहित पांच संग्रह और इनके सिवाय 27 और ग्रन्थ संग्रह के जिनमें सन् संवत नहीं लिखे।

शिवसिंह सरोज में लगभग एक हजार से अधिक कवियों का जीवन-चरित्र और उनकी रचनाएँ दी हुई हैं। इस ग्रन्थ में 687 कवियों के कालक्रम दिए हुए हैं। 263 कवि बिना तिथि के हैं और 838 कवियों को उनकी रचनाओं के साथ प्रस्तुत किया गया है। कवियों के जन्मकाल, रचनाकाल आदि के संकेत भी दिए गये हैं, यह दूसरी

बात है कि वे बहुत विश्वसनीय नहीं हैं। शिवसिंह सरोज का सर्वाधिक महत्व इस बात में है कि इसमें उस समय तक उपलब्ध हिन्दी साहित्य को एकत्र कर दिया गया है। कवियों का इस प्रकार का वृहत संग्रह करने का यह प्रथम प्रयास था। आगे होने वाले सभी लेखकों के लिए यह एक प्रकार से प्रस्थान बिंदु का काम करता है, या दूसरे शब्दों में कहें तो यह ग्रन्थ एक प्रकार से आगे होने वाले इतिहासकारों के लिए एक पुस्तकालय के समान है। जब भी हिन्दी साहित्य में प्राचीन कवियों पर कार्य होता था तब यह ग्रन्थ देख लिया जाता था कि इसमें शिवसिंह ने क्या लिखा है। आज भी इस ग्रन्थ का महत्व अक्षुण्ण रूप से बना हुआ है। सरोज ने अपने ग्रन्थ में कवियों का उपस्थित काल दिया था जिसे बाद के संस्करणों में कवियों जन्म-काल मान लिया गया। बाद में कवियों के साथ 'में उ.' जोड़ दिया गया। जब ग्रियर्सन ने अपने इतिहास की रचना की तब उन्होंने भी यही गलती की और कवियों के उपस्थित काल को उनका उत्पति काल मान लिया। सरोज में दिए गए कई-कई कवि एक हैं और एक कवि कई-कई हैं। लक्ष्मीनारायण गुप्त ने अपने संशोधित संस्करण में इस बात को उदाहरण सहित रेखांकित किया है। वे ये भी बताते हैं कि कई कवि शिवसिंह की मिथ्या-सृष्टि हैं, जिनका कभी भी अस्तित्व नहीं रहा है। कई स्थलों पर कवि और उनकी कविता का उदाहरण भी गलत है। परिचय एक व्यक्ति का दिया गया है, उदाहरण उसी नाम के किसी दूसरे कवि की कविता का दिया गया है। वे यह भी बताते हैं कि सरोज के विभिन्न संस्करणों का मिलान करने पर उनमें पर्याप्त भिन्नता दिखाई देती है और कभी कभी यह विभेद आश्चर्यजनक ही नहीं क्रांतिकारी भी हो जाता है।'[11]

ग्रन्थ के प्रथम अध्याय-'शिवसिंह सरोज : एक दृष्टि' में संपादक किशोरीलाल गुप्त ने बताया है कि उन्होंने पहला, दूसरा, तीसरा, चौथा और सातवाँ संस्करण देखा था। पहले के संस्करणों में बहुत अन्तर नहीं है लेकिन सातवाँ संस्करण बहुत परिवर्तित है। सातवे संस्करण का प्रकाशन 1926 ई0 में हुआ था। गुप्त जी ने अपने 'सरोज–

सर्वेक्षण' में सातवें संस्करण को ही आधार बनाया था क्योंकि उस समय मात्र यही उनके पास था। लेकिन बाद में जब उन्होंने बाकी के संस्करण देखे तो ग्रन्थ के संपादन की आवश्यकता उन्हें बड़ी शिद्दत से महसूस हुई। वे लिखते हैं-" इन चारों संस्करणों में प्रथम एवं द्वितीय में पर्याप्त साम्य है इस प्रकार तृतीय, चतुर्थ और सप्तम में भी। मैंने जहाँ तक हो सका है प्रथम संस्करण को ही प्रमाण माना है। क्योंकि यही संस्करण शिवसिंह सेंगर के जीवन काल में प्रकाशित हुआ था। और इसी को उनके द्वारा प्रस्तुत प्रेस-प्रति के सर्वाधिक निकट हूना चाहिए। अन्य संस्करण में सरोजकार द्वारा प्रस्तुत प्रेस-पत्री से निरंतर दूर पड़ते गए हैं।दो संस्करण प्रस्तर मुद्रण- 'लिथो' में है, तीसरे से टाईप प्रारंभ हो गया है।...." उपलब्ध सप्तम संस्करण शिवसिंह का सारा गद्य पर्याप्त संवार दिया गया है। शब्द बदल दिए गए हैं। शब्द का संशोधन कर दिए गए हैं। शब्दों का स्थान परिवर्तन कर दिए गए हैं। शब्दों को पूर्णतः निकल दिया गया है। यह सब कार्य स0 रूपनारायण पाण्डेय द्वारा हुआ था।"[12]

शिवसिंह सरोज तीन खण्डों में विभक्त है- भूमिका, काव्य-संग्रह, जीवन-चरित्र। डॉ0 रामकुमार वर्मा ने अपने इतिहासग्रन्थ –'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में सरोज से पहले लिखे गए दो इतिहास ग्रंथों का उल्लेख किया है- पहला महेशदत्त कृत 'भाषा काव्य संग्रह' दूसरा- मातादीन मिश्र कृत 'कवित्त रत्नाकर'। वे तासी के ग्रन्थ को पहला इतिहास ग्रन्थ, 'भाषा काव्य संग्रह' को दूसरा और 'कवित्त रत्नाकर' को तीसरा इतिहास-ग्रन्थ मानते हैं । उक्त दोनों ग्रन्थ शिक्षा विभाग द्वारा तैयार करवाए गए थे। तो सहज ही है कि उनका उद्देश्य पाठ्यक्रम के अनुसार सामग्री उपलब्ध करवाना ही होगा। इन दोनों ग्रंथों में पहले कवियों के काव्य संग्रह दिए गए हैं और दूसरे खंड में कविवृत दिया गया है। सरोजकार ने भी अपने इतिहास ग्रन्थ में इसी पद्धति का अनुकरण किया है। सरोजकार ने अपने आधार ग्रंथों में इन ग्रंथों का उल्लेख किया है।

ऐसा नहीं है कि शिवसिंह को इतिहासबोध नहीं था। भूमिका के अंतर्गत एक-एक शती में होने वाले कवियों की उन्होंने परिगणना भी की है और हिन्दी की जड़ खोजते हुए वे स0 770 वि. में होने वाले कवि पुंड तक पहुंचते हैं। जिसे ग्रियर्सन अपने इतिहास ग्रन्थ में पुष्प कवि के नाम से उद्धृत करते हैं।

ध्यातव्य है कि जिस समय शिवसिंह अपने ग्रन्थ का प्रणयन कर रहे थे, यह समय औपनिवेशिक राज के बौद्धिक उपक्रम एवं प्रबुद्ध भारतीयों के अपने प्रयास, इतिहास के क्षेत्र में एक नयी दिशा को प्रस्तावित कर रहे थे। यह समय भारत के इतिहास और समाज में अद्वितीय महत्व रखता है। भले ही शिवसिंह तासी के इतिहास लेखन के ग्रन्थ से परिचित ना हों किन्तु उनका ग्रन्थ पूरी तरह से अपने समय-समाज की ऐतिहासिक चेतना का प्रतिफल ही ठहरता है।

किशोरीलाल गुप्त द्वारा सम्पादित 'शिवसिंह-सरोज' की निम्न विशेषताएं बताई गई हैं-

1- काव्यसंग्रह खंड में प्रथम, द्वितीय, तृतीय संस्करणों में कवियों की कोई क्रम संख्या नहीं दी गयी है। सप्तम संस्करण में दी गयी है। इसी क्रम संख्या को इस संस्करण में भी सुविधाजनक समझ कर स्वीकार कर लिया है। इस संग्रह में उदाहृत कवियों की कुल संख्या 839 है।

2- प्रस्तुत संस्करण में उदाहृत छंदों की भी क्रम संख्या लगा दी गयी है। यह क्रम संख्या पहली बार लगाई जा रही है। इससे एक तो सरोज में उदाहृत छंदों की कुल संख्या 1849 ज्ञात हो जाती है। दूसरे अभिधान प्रस्तुत करने में इस से बड़ी सरलता हो गयी है।

3- सरोज के तीसरे खंड में कवियों का जीवन चरित है। पूर्ववर्ती संस्करणों में प्रत्येक वर्ण से प्रारंभ होने वाले कवि नामों की अलग अलग क्रम संख्या दी गयी है व प्रस्तुत संस्करण में भी कवि नामों के साथ संलग्न हैं। पर यहाँ एक सम्मिलित अटूट क्रम

संख्या भी दी गयी है। यह क्रम संख्या कवियों के नाम के पहले क्रमांक के भी पूर्व संलग्न हैं। कवि-नामों के पहले तीन संख्याएँ हैं। पहली संख्या अटूट क्रम की है। दूसरी संख्या इस बात की सूचक है कि इस पर कवि की कविता का उदाहरण पिछले पृष्ठों में देखा जा सकता है। तीसरी संख्या प्रत्येक वर्ण के कवियों का अलग-अलग क्रमांक है। उदाहरण का निर्देश करने के लिए प्रथम एवं द्वितीय संस्करणों में 'पत्र जिसमें उसकी कविताई है' नाम का पांचवा स्तंभ ही बनाया गया था। तृतीय एवं सप्तम संस्करणों में जीवन चरित्र वाले अनुच्छेद के आगे '1 सफा', '2 सफा' आदि लिख दिया गया है। पर कहीं भी इसका अभिप्राय संकेतित नहीं है। प्रत्येक संस्करण में यह पृष्ठ संख्या बराबर बदलती रही है। प्रस्तुत संस्करण में अपनाई गयी पद्धति से पृष्ठ निर्देश की आवश्यकता नहीं रह जाती। कवि की संख्या का निर्देश किया गया है और यह संख्या सदैव एक ही बनी रहेगी।

4- प्रत्येक कवि के जीवन चरित्र के पश्चात निर्णयात्मक टिप्पणी जोड़ दी गयी हैं। यह टिप्पणियाँ सरोज सर्वेक्षण के आधार पर प्रस्तुत की गयी हैं, टिप्पणियों का विस्तार नहीं किया गया है और न तो किसी प्रकार का प्रमाण दिया गया है। प्रमाण के लिए सरोज सर्वेक्षण देखा जा सकता है। जीवन-चरित खंड में कवियों की दी गयी क्रम संख्या और सरोज सर्वेक्षण में दी गयी संख्या में कोई अंतर नहीं है। सरोज सर्वेक्षण शिवसिंह सरोज के सप्तम संस्करण के आधार पर प्रस्तुत किया गया है और प्रस्तुत संस्करण का मुख्य आधार है प्रथम संस्करण । सप्तम संस्करण में कवियों की कुल संख्या 1003 है। प्रथम संस्करण से सप्तम संस्करण तक आते आते 5 कवियों की संख्या बढ़ गयी है।

सरोज सर्वेक्षण और सरोज के प्रस्तुत संस्करण में पूर्व कवि संख्या में भेद ना हो इसीलिए यहाँ भी इन पांच कवियों की पूर्ण क्रम संख्या स्वीकार कर ली गयी है। पर उनका जीवन वृत्त नहीं स्वीकार किया गया है। ऐसा इसलिए किया गया है जिससे कवि के जीवन वृत्त को विस्तार से जानने के लिए अथवा टिप्पणी में दिए गए किसी

तथ्य के आधार को जानने के लिए यदि कोई सरोज सर्वेक्षण उलटना- पलटना चाहे तो उसे किसी भी प्रकार की असुविधा ना हो।

5- जिस प्रकार परवर्ती संस्करणों में जीवन चरित खंड में पांच कवियों की वृद्धि कर दी गयी है उसी प्रकार काव्य संग्रह खंड में भी इनमें दो-एक स्थलों पर कवियों के क्रम में उलट-पलट कर दिया गया है। प्रस्तुत संस्करण में प्रथम संस्करण का ही क्रम रखा गया है।

6- जीवन-चरित खंड के अनंतर कई उपयोगी परिशिष्ट जोड़ दिए गए हैं। परिशिष्ट में 1 में 54 ऐसे कवियों की रचनाएँ उदाहृत हैं जिनका जीवन चरित तो सरोज में हैं। पर जिनकी रचनाओं के उदाहरण शिवसिंह ने नहीं दिए हैं। परिशिष्ट 2 में 109 कवियों की सूची है, जिनकी कविता के उदाहरण न तो मूल ग्रन्थ में हैं और न परिशिष्ट 1 में ही दिए जा सके हैं। परिशिष्ट 3 में उन 71 छंदों की प्रतीक सूची है, जो उन कवियों की नहीं है, जिनके नाम पर वे दिए गए हैं यथासम्भव उन कवियों के नाम भी यहाँ दे दिए गए हैं। जिनकी रचनाएँ वे वस्तुतः हैं। परिशिष्ट-4 में कुछ और भी उपयोगी सूचनाएं एकत्र कर दी गयी है।

7- सरोज के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, एवं चतुर्थ संस्करणों में कठिन शब्दों पर अर्थसूचक पाद-टिप्पणियाँ नहीं दी गईं हैं। सप्तम संस्करण में दी गईं हैं। इनकी संख्या न तो पर्याप्त हैं और न ये सर्वत्र प्रामाणिक ही है।

सरोज के प्रस्तुत संस्करण में प्रायः सभी कठिन शब्दों का अर्थ देने का प्रयास किया गया है। कभी कभी शब्दों का अर्थ ज्ञात रहने पर भी अर्थ नहीं खुलता। ऐसे स्थलों पर पूरे वाक्य का अर्थ दे दिया गया है। कूटों का अर्थ विस्तार से समझा दिया गया है। प्रत्येक छंद को भली भांति समझाने एक प्रयास किया गया है।

हिन्दी के कुछ प्रमुख कवियों के बारे में शिवसिंह के विचार

अपने इतिहास ग्रन्थ के द्वितीय खंड में शिवसिंह ने कवियों का जीवन चरित्र प्रस्तुत किया है। इस चरित्र आख्यान में शिवसिंह का दृष्टिकोण देखा जा सकता है। शोध के क्रम में यह जानना महत्वपूर्ण होगा कि हिन्दी के वे कवि जिनको आज हिन्दी साहित्य के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में गिना जाता है उनके बारे में शिवसिंह ने क्या लिखा था और आगे होने वाले इतिहासकारों ने उसे ग्रहण किया या नहीं? हाँलाकि शिवसिंह केवल संग्रह-करता थे फिर भी हिन्दी साहित्य के पहले इतिहास ग्रन्थ, जो हिन्दी में प्रकाशित हुआ के कोण से उनके विचार महत्व रखते हैं।

शिवसिंह ने अपने ग्रन्थ में बहुत से राजे-रजवाड़ों के साहित्य को महत्व दिया था। उनकी शुरुआत ही अकबर के काव्य-उद्धरण से होती है। इसके अलावा छत्रशाल आदि राजाओं की भी रचना उन्होंने संकलित की है। किन्तु आगे होने वाले इतिहासकारों ने इस परंपरा को नहीं अपनाया। शुक्ल जी के इतिहासग्रन्थ में हमें राजे-रजवाड़ों की रचनाएँ मुख्य रूप से नहीं दिखाई देतीं। इस सन्दर्भ में देखें तो शिवसिंह जब इतिहास ग्रन्थ लिख रहे थे तब का साहित्य रीतिकालीन के बाद का साहित्य था जो रीतिकालीन साहित्य के परवर्ती रूप से पूरी तरह से मुक्त नहीं हुआ था। ब्रजभाषा अभी भी घोषित रूप से काव्य-भाषा के रूप में प्रतिष्ठित थी। जिसका पूरा प्रभाव 'शिवसिंह-सरोज पर दिखाई देता है। यही कारण है कि शिवसिंह ने बहुत से राजे-रजवाड़ों, बादशाहों, सामंतों आदि की रचनाओं को मुख्य रूप से अपने इतिहास में जगह दी है।

केशवदास- रीतिकाल के प्रवर्तक माने जाने कवि केशवदास की भाषा की तुलना वे संस्कृत आचार्यों से करते हुए वे लिखते हैं कि- "भाषा काव्य के तौ इनको भौम (ह) मम्मट भरत के समान प्रथम आचार्य समुझना चाहिए, काहे ते कि काव्य के दशौ अंग पहिले पहिले इन्होंने कविप्रिया ग्रन्थ में वर्णन किए।"[13] इस प्रकार शिवसिंह ने केशव

को भरत के समान मान लिया है। वहीं शुक्ल जी केशव की भाषा को बहुत कठिन बताते हुए कहते हैं कि 'केशव कठिन काव्य के प्रेत हैं'।

कबीरदास- कबीर के बारे में शिवसिंह ने कुछ भी नहीं लिखा है। केवल उनकी कुछ रचनाओं का परिचय भर दे दिया है। ज्ञात है कि कबीर को हिन्दी साहित्य के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान दिलाने का श्रेय आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी को है।

रहीम- अब्दुल रहीम खानखाना के बारे में वे लिखते हीं-" ये महा विद्वान अरबी-फ़ारसी, तुर्की इत्यादि, यमनी भाषा और संस्कृत, ब्रज भाषा के बड़े पंडित अकबर बादशाह की आंख की पुतली थे.... इनकी सभा रात-दिन विद्वत – जनों से भारी पूरी रहती थी। संस्कृत में इनके बनाए श्लोक बहुत कठिन हैं। और भाषा में नवों रस की कविता, कवित्त, दोहा, बहुत ही सुन्दर हैं। नीति संबंधित दोहे ऐसे अपूर्व हैं कि जिनके पढ़ने से कभी पढ़ने वाले को तृप्ति नहीं होती फ़ारसी में इनका दिवान बहुत उन्दा है।"[14] रहीम के नीति संबंधी दोहे आज भी लोकप्रचलित हैं, जिसमें कोई दोराय नहीं है।

चिंतामणि- कवि चिंतामणि को वे भाषा-साहित्य का आचार्य स्वीकार करते हैं और उनके बारे में शिवसिंह ने कुछ भी नहीं लिखा है।

तुलसीदास- भक्तिकालीन कवि तुलसी के महत्व को निर्धारित करते हुए शिवसिंह लिखते हैं-" निदान गोसाईं जी बड़े महत्तम रामोपासक महायोगी सिद्ध हो गए हैं। ....विनयपत्रिका महाविचित्र मुक्तिरूप, प्रज्ञानन्द सागर ग्रन्थ बनाया है। चौपाई गोसाईं महाराज की ऐसी किसि कवि ने बनाया नहीं पाया औ न विनयपत्रिका की समान अद्भुतग्रन्थ आज तक किसी कवि महात्मा ने रचा। इस काल में जो रामायण न होती तो हम ऐसे मूर्खों का बेड़ा पार नहीं लगता। गोसाईं जी श्री अयोध्या जी, मथुरा, वृन्दावन,, कुरुक्षेत्र, प्रयाग, वाराणसी, पुरुषोत्तम पूरी इत्यादि क्षेत्रों में बहुत

दिनों तक घूमते रहे हैं। सबसे अधिक श्री अयोध्या काशी, प्रयाग और उत्तराखंड, वंशीवट इत्यादि जिले सीतापुर में रहें हैं।"[15] रामचरितमानस, विनयपत्रिका लिखने के कारण तुलसीदास हिन्दी साहित्य में सर्वश्रेष्ठ कवियों में स्थापित हैं। उनके मानस को ही प्रचलित रूप में रामायण भी कहा जाता है। आगे होने वाले सभी इतिहासकारों ने तुलसीदास को अपने इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान दिया है। ग्रियर्सन ने तो तुलसीदास पर शोध करने का बाद में इतिहास लिखा । शुक्ल जी भी तुलसीदास को सर्वश्रेष्ठ कवि मानकर बाकियों को उनकी ही कसौटी पर तुलना करते हैं।

देव- शिवसिंह ने केशव के समान देव की भी तुलना संस्कृत आचार्यों की भाषा ऐ की है। वे देव को भी भाषा आचार्य स्वीकार करते हुए लिखते हैं- "ये महाराज अद्वितीय अपने समय के भामह, मम्मट की समान भाषा काव्य के आचार्य हो गए हैं। शब्दों में ऐसी समाई कहाँ है जिनमें इनकी प्रशंसा की जाए।"[16]

बीरबल – बीरबल के बारे में जो शिवसिंह ने लिखा है वो अत्यंत महत्वपूर्ण है।सब जानते हैं कि अकबर एक महान राजा था और उसकी हिन्दुओं के प्रति सहिष्णु नीति के कारण वह लोकप्रिय हुआ। शिवसिंह बताते है कि अकबर का रूप बीरबल से ही प्रेरित था। यदि बीरबल न होते तो शायेद अकबर भी महान न होता। वे लिखते हैं कि "राजा बीरबर ने अकबर के हुकुम्म से अकबरपुर गाऊं जिले कानपूर में बसाया। आप भी अपना निवास स्थान उसी को नियत किया और नारनौल क़स्बा में इनकी पुरानी इमारती बड़ी आलिशान आजतक मौजूद हैं। चौधराई का ओहदा जो बहुत ब्राह्मणों को मिला और गोवध बंद हुआ। हिंदु मुस्लिम में बहुत मेल जोल हो गया। ये सब बातें इन्हीं महाराज की कृपा से हुई थी।"[17] स्पष्ट है कि हिंदू-मुसलमानों के आपसी मेलजोल और गोवध पर प्रतिबन्ध का श्रेय शिवसिंह बीरबल को देते हैं। समसायिक दृष्टि से देखें तो जहाँ आज सत्ता द्वारा कलाकारों पर तमाम तरह का प्रतिबन्ध लगाया जा रहा है। हर तरफ असहिष्णुता का वातावरण बना है। तमाम साम्प्रदायिक दंगे हो

रहे हैं। 'गोवध' एक ज्वलंत मुद्दा बन कर छाया हुआ है। गोहत्या के नाम पर आदमी-आदमी को मार रहा है। ऐसे में आज फिर से एक बीरबल की आवश्यकता है।

बिहारी- रीतिकाल के सर्वश्रेष्ठ कवि बिहारी के ग्रन्थ 'बिहारी-सतसई' के महत्व को रेखांकित करते हुए शिवसिंह लिखते हैं- " यह सतसई ग्रन्थ अद्वितीय है। बहुत कवि लोगों ने इसके ढंग पर अपनी कविता का रंग जमाना चाहा। पर किसी कवि को सुरखरुई प्राप्त नहीं हुई यह ग्रन्थ ऐसा अद्‌भुत है कि हमने 18 तिलक तक इसके देखें हैं। और आज तक तृप्त नहीं हैं। लोग कहते हैं कि अक्षर कामधेनु होते हैं। सो वास्तव में इस ग्रन्थ के अक्षर कामधेनु दिखाई देते हैं।"[18] जहां शिवसिंह ने बिहारी के अक्षरों को कामधेनु बताया है वहीं शुक्ल जी भी बिहारी के शब्दों की चमत्कारप्रियता की प्रशंसा करते हैं। वे कहते हैं कि भाषा की समाहार शक्ति जितनी बिहारी में है वह किसी और कवि में नहीं दिखाई देती।

भूषण- भूषण के काव्य में प्रस्तुत वीर, रौद्र और भयानक रसों की महत्वता पर प्रकाश डालते हुए वे लिखते हैं-" रौद्र, वीर भयानक ये तीनों रस जैसे इनकी काव्य में हैं ऐसे और कवि लोगों की कविता में नहीं पाए जाते।"[19] हिन्दी में जब वीर-रस के कवि की बात आती है तो हम देखते हैं कि आदिकाल में तमाम रासो काव्य, आल्हा-उदल काव्य के बाद भक्तिकाल और रीतिकाल में वीर काव्य लगभग गायब ही हो गए। किन्तु भूषण ने रीतिकाल में भी शिवाबावनी, छत्रशाल दशक जैसी उच्च कोटि का वीर-काव्य लिख कर वीर-काव्य परंपरा को आगे बढ़ाया। आचार्य शुक्ल ने भी इस दृष्टि से भूषण की भूरि भूरि प्रशंसा की है।

मीरा- शिवसिंह ने अपने ग्रन्थ में मीराबाई का उल्लेख कर के अपनी विराट दृष्टि का परिचय दिया है। वे लिखते हीं कि "मीराबाई महास्वरूपवान औ कविता में अति-निपुण थीं। 'राग-गोविंद' ग्रन्थ भाषा में बहुत ललित बनाया।"[20] हम देखते हैं कि हिन्दी साहित्य का मानक इतिहास जो शुक्ल जी द्वारा लिखा गया है उसमें भी

मीराबाई जैसी महान कवयित्री को स्थान नहीं मिला । इस दृष्टि से शुक्ल जी के इतिहास की आलोचना होती रही है। और यहाँ शिवसिंह सरोज महत्वपूर्ण हो जाता है।

मलिक-मुहम्मद जायसी- जायसी के विषय में सरोजकार ने कुछ भी विचार नहीं किया है। बस उनके महान ग्रन्थ –पद्मावत' का उल्लेख भर कर दिया है। वहीं आगे होने वाले इतिहासकारों ने जायसी को अपने इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान दिया है।

2. 3. तासी और सरोज के ग्रन्थ की तुलना

हिंदी साहित्येतिहास लेखन की शुरुआत सामान्य तौर पर गार्सा द तासी के इतिहास-ग्रन्थ-***'इस्त्वार द ला लितेरात्यूर ऐन्दुई ऐ ऐन्दुस्तानी'*** से मानी जाती है और जिसे हिंदी साहित्य के इतिहास का पहला ग्रन्थ माना जाता है। इस ग्रन्थ में हिंदी तथा उर्दू दोनों भाषा-कवियों के विवरण हैं एवं वर्णक्रमानुसार कवियों का परिचय दिया गया है। तासी ने अपने इस ग्रन्थ को इतिहास संज्ञा से भी विभूषित किया है। इतिहासलेखन में भाषागत अलगाव न करना वस्तुतः तासी के विदेशी विद्वान होने के कारण है। तासी के ग्रन्थ में विवेच्य हिंदी कवियों का सटिप्पणन अनुवाद लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने किया है। पुस्तक का नाम है- 'हिन्दुई साहित्य का इतिहास'। ग्रन्थ की भूमिका से पता चलता है कि हिन्दुई हिंदुओं में बोली जाने वाली हिंदी है और हिन्दुस्तानी मुसलामानों में बोली जाने वाली हिंदी है। 'हिन्दुई' और 'हिन्दुस्तानी' भाषा के बीच अंतर निर्धारित करने के बाद भी तासी ने कुछ व्यवहारिक कठिनाइयों ने कारण साहित्यिक प्रवृत्तियों आदि का निरूपण नहीं किया है इस बात का उल्लेख भी उन्होंने भूमिका में किया है। 'फ्रेंच वैदुष्य' एवं उपनिवेश बनाए जाने वाले देश को परिभाषित करने की दृष्टि तासी के इतिहासग्रन्थ में देखी जा सकती है।

शिवसिंह सेंगर द्वारा लिखा गया—***'शिवसिंह सरोज'*** है। इस पुस्तक में हिंदी के लगभग 1000 कवियों का विवरण वर्णक्रमानुसार दिया गया है। शिवसिंह ने अपने

इतिहास ग्रन्थ में कवियों का जीवन-चरित उनकी रचनाओं के साथ प्रस्तुत किया है एवं अपने ग्रन्थ को इतिहास की संज्ञा से विभूषित भी नहीं किया।

तासी के ग्रन्थ का द्वितीय संस्करण का प्रकाशन शिवसिंह सरोज के प्रथम संस्करण के सात वर्ष पहले हो चुका था, पर शिवसिंह को इस ग्रन्थ के बारे में ज्ञांत नहीं था। इस ग्रन्थ का हिन्दी साहित्य के अध्येताओं ने कभी भी उपयोग नहीं किया, क्योंकि वे फ़्रांसिसी भाषा से अनभिग्य थे और इस ग्रन्थ का अंग्रेजी अनुवाद भी नहीं हुआ। इसके प्रथम संस्करण का उपयोग सर जॉर्ज ग्रियर्सन ने 'हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास' में सरोज की तिथियों की जांच पड़ताल के सम्बन्ध में किया था। वे इसके द्वितीय संस्करण का उपयोग नहीं कर सके। संभवतः उन्हें इसका पता न था। व्यावहारिक दृष्टि से भी सरोज का महत्व तासी के ग्रन्थ से अधिक है। क्योंकि इसका उपयोग लगातार होता आया है। डॉ0 लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय तासी के ग्रन्थ की प्रशंसा करते हुए प्रकरण के अंतर्गत लिखते है- 'फ्रेंच भाषा में लिखित हिन्दुई साहित्य के इतिहास का अपना विशेष स्थान है। क्योंकि हिन्दी साहित्य की दीर्घकालीन गाथा को सूत्रबद्द रूप में स्पष्ट करने का यह प्रथम प्रयास था। एक जगह वे लिखते हैं कि – 'सेंगर ने सरोज की भूमिका में लिखा है : मुझको इस बात के प्रकट करने में कुछ संदेह नहीं कि ऐसा संग्रह कोई आजतक नहीं रचा गया।' तासी ने कवियों की कविताओं का संग्रह तो नहीं दिया। किन्तु 'कवियों के जीवन चरित्र, सन, संवत्, जाति, निवास-स्थान आदि उनकी रचना से छ वर्ष पूर्व द्वितीय बार तासी द्वारा प्रस्तुत किए जा चुके थे।

शिवसिंह सेंगर ने अपने ग्रन्थ के संबंध में जो बात कही है एकदम ठीक है। सेंगर का अभिप्राय था कि सरोज जैसा संग्रह हिन्दी में उनके समय तक कोई नहीं रचा गया था। यह बात अपनी जगह पर ठीक है। सेंगर और तासी के ग्रंथों में हिन्दी कवियों और लेखकों के इतिवृत्त दिए गये हैं, वहाँ तक इनमें समानता है। पर सरोज काव्य-संग्रह है, जो तासी की रचना नहीं है। सरोजकार ने संग्रह की ही प्रशंसा की है। यद्यपि उसका कारण संलग्न इतिवृत ही है।

लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय द्वारा तासी के ग्रन्थ को 'हिन्दी साहित्य की दीर्घकालीन गाथा को सूत्रबद्ध रूप में स्पष्ट करने का सर्वप्रथम प्रयास कहना पूर्णतः भ्रामक है। कवियों के विवरण, नाम अकारादिक्रम से दिए जाने के कारण पहले तो इसमें सूत्रबद्धता है ही नहीं, पुनः यह हिन्दी साहित्य की दीर्घकालीन गाथा को प्रस्तुत भी नहीं करता। यह मुख्यतः हिन्दुस्तानी साहित्य की दीर्घकालीन गाथा झलक को प्रस्तुत करता है। सरोज और तासी में एक और महान अंतर है। वह अंतर विचारधारा का है, निष्ठां का है। शिवसिंह की निष्ठां हिन्दी साहित्य में है। तासी की निष्ठां बंटी हुई है। उर्दू की तरफ उनका झुकाव अधिक है।

सर्वप्रथम तासी के इतिहासग्रथ में हिन्दी से ज्यादा उर्दू कवियों की रचनाएँ संकलित हैं। वहीं अन्य भारतीय भाषाओं के कवियों की रचनाएँ को भी उन्होंने संकलित किया हैं। वहीं शिवसिंह ने केवल उन्हीं कवियों को अपने ग्रन्थ में स्थान दिया है जो हिन्दी और उसकी उपभाषाओं में रचना कर रहे थे। शिवसिंह ने बहुत से राजे-महाराजों की रचनाओं का संकलन किया है। वहीं तासी के ग्रन्थ में यह प्रवृत्ति नहीं दिखाई देती।

तासी के ग्रथ में साहित्य के साथ साथ आदि अनेक विषयों के ग्रन्थ भी शामिल हैं। जैसे विज्ञान, भूगोल, अर्थशास्त्र, आदि-आदि। किन्तु सरोजकार में यह प्रवृत्ति नहीं दिखाई देती। क्योंकि शिवसिंह के पहले खंड में कविताओं का संकलन है फिर दूसरे खंड में रचनाकारों के जीवन-चरित्र दिए हुए हैं। तासी ने अपने ग्रन्थ में बहुत से संपादकों का भी संकलन किया है। साथ ही उन्होंने पाठ्यपुस्तक लेखकों को भी भरपूर स्थान दिया है। इसका कारण सिर्फ यही नजर आत है कि तासी का उद्देश्य बस विदेशी पाठकों को भारतीय ज्ञान से अवगत कराना था न कि एक मुकम्मल इतिहास-ग्रन्थ लिखना। और उनसे पहले भी कोई इतिहासग्रन्थ नहीं लिखा गया था तो उन्हें कोई दिशानिर्देश भी मिल नहीं पाया था।

तासी के ग्रन्थ में जहाँ प्राच्यवादी दृष्टि साफ़ दिखाई देती है वहीं सरोजकार में राष्ट्रवादी दृष्टि मुख्य रूप से दिखाई देती है। जहाँ तासी ने अपने ग्रन्थ की भूमिका में

इंग्लैंड की महारानी विक्टोरिया को ग्रन्थ समर्पित किया है वहीं शिवसिंह अपने ग्रन्थ की भूमिका में भारतीय साहित्य के महान रचनाकारों एवं उनके महत्व का रेखांकन किया है। संस्कृत की समृद्ध परंपरा का उल्लेख करते हुए उन्होंने संस्कृत के साहित्य को भी उद्धृत किया है। तासी ने विक्टोरिया के शासन को भारत का समृद्ध युग स्वीकार किया है। वहीं शिवसिंह ने संस्कृत साहित्य को और प्राचीन युग का गुणगान बहुत सी जगहों पर किया है।

ध्यातव्य है कि तासी एक भाषा वैज्ञानिक थे। उर्दू के प्रोफेसर के रूप में उनके लिए एक पद का सृजन किया गया था। उनके ग्रन्थ में भाषा का विश्लेषण साफ़ दिखाई देता है। उन्होंने हिन्दुस्तानी, हिन्दुई, संस्कृत, फारसी भाषा पर अपने ग्रन्थ में विस्तार से विचार किया है। वहीं शिवसिंह इंस्पेक्टर थे और उन्होंने सिर्फ खोज की है हिन्दी के सैकड़ों कवियों की। और उनका संकलन प्रस्तुत किया है। शिवसिंह जहां कवियों की रचनाओं को 'भाषा' में लिखा हुआ बताते हैं संभवतः वहाँ उनका अभिप्राय होगा कि संस्कृत से इतर साहित्य की भाषा या ब्रज भाषा। उन्होंने संस्कृत से इतर हिन्दी की सभी बोलियों के लिए 'भाषा' संज्ञा का उपयोग किया है।

तासी और शिवसिंह के प्रयोजन में एक बहुत बड़ा अतर यह भी है कि उनका पाठक वर्ग पूर्णतः भिन्न है। तासी का उद्देश्य यूरोपीय पाठकों को हिन्दुस्तानी साहित्य का ज्ञान करवाना था। वहीं शिवसिंह का उद्देश्य भारतीय पाठक-वर्ग ही रहा होगा। यही कारण है कि तासी भिन्न भिन्न स्थानों पर यूरोपीय लेखकों से हिन्दुस्तानी कवियों की तुलना करते हुए नजर आते हैं। वहीं शिवसिंह में ऐसी कोई पद्धति नहीं नजर आती है। कहीं कहीं उन्होंने संस्कृत के आचार्यों से केशवदास, देव आदि की तुलना की है। ज्यादातर वे तुलनात्मक पद्धति से दूर ही रहे हैं।

तासी के इतिहासग्रन्थ के आधार ग्रन्थ मुख्यतः विदेशी विद्वानों के संकलन रहे हैं वहीं शिवसिंह ने केवल भारतीय ग्रथों के आधार पर ही अपना इतिहास-ग्रन्थ लिखा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपयुक्त इतिहासग्रंथों में साहित्य के इतिहासलेखन की विभिन्न समस्याएं सामने आती हैं। काल-विभाजन, नामकरण एवं प्रवृत्ति निरूपण का कोई प्रयास इन ग्रंथों में नहीं किया गया। जो कि इतिहास के अनिवार्य पहलु होते हैं। विभिन्न व्यावहारिक कारणों से यह संभव नहीं हो सका। हिन्दी के सैकड़ों वर्षों के इतिहास को बिना किसी दिशा निर्देश के एक मुकम्मल इतिहास का रूप पहनाना सम्भव नहीं था। वो भी जब साहित्यकारों का संग्रह भी नहीं हुआ था। यही कारण है कि इतिहासलेखन से पूर्व कवि-वृत्त संग्रह की आवश्यकता बड़ी शिद्दत से महसूस की गयी । उसी के परिणाम थे ये शुरूआती संकलन। प्रो. नामवर सिंह इस सन्दर्भ में लिखते हैं- 'जैसा प्रयोजन वैसा निर्वहन'। उपयुक्त के अलावा इतिहासलेखन के लिए चयन, व्याख्या, श्रेणीकरण, एवं पुनर्निर्माण के सहारे सामान्यीकरण जैसे तत्व महत्वपूर्ण होते हैं। जिसका पूर्णतः आभाव इन ग्रंथों में दिखाई देता है।

उपर्युक्त इतिहास-ग्रंथों में यद्यपि आवश्यक विश्लेषण की कमी रही हो लेकिन उनका ऐतिहासिक महत्व है। इन ग्रंथों के रचनाकारों ने हिंदी इतिहास लेखन के लिए सामग्री का संचयन एवं प्रस्थान भूमि के निर्माण का कार्य किया। प्रायः सभी परवर्ती इतिहासलेखकों ने इन ग्रंथों की उपादेयता एवं आवश्यकता को स्वीकार किया है। ग्रियर्सन ने तो शिवसिंह सरोज पर ही अपने ग्रन्थ की निर्भरता स्वीकार की है और उसे पथ-प्रदर्शक के रूप में माना है। इतिहास लेखन की परम्परा की शुरुआत में इन ग्रंथों के महत्व को रेखांकित किया जाएगा।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1) शर्मा, नलिनविलोचन, साहित्य का इतिहास दर्शन,बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, प्रथम संस्करण-विकमाब्द,2016,पृष्ठ संख्या-76

2) तासी, गार्सा द, हिन्दुई साहित्य का इतिहास, अनुवाद- लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, 1953, पृष्ठ-संख्या – 02

3) वही, पृष्ठ संख्या -04

4) वही

5) वही, पृष्ठ संख्या-6, 8

6) वही, पृष्ठ संख्या-12

7) तासी, गार्सा द, हिन्दुई साहित्य का इतिहास, अनुवाद- लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, 1953, पृष्ठ-संख्या –160,294

8) सेंगर, शिवसिंह, शिवसिंह सरोज, संपादक- डॉ0 किशोरीलाल गुप्त, प्रयाग हिन्दी साहित्य सम्मेलन, 1970, भूमिका, पृष्ठ संख्या-31

9) शर्मा, नलिनविलोचन, साहित्य का इतिहास दर्शन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, प्रथम संस्करण-विकमाब्द,2016,पृष्ठ संख्या-77

10) गुप्त, किशोरीलाल, सरोज-सर्वेक्षण, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, 1967, पृष्ठ संख्या-19

11) सेंगर, शिवसिंह, शिवसिंह सरोज, संपादक- डॉ0 किशोरीलाल गुप्त, प्रयाग हिन्दी साहित्य सम्मेलन, 1970, 'सरोज: एक दृष्टि', पृष्ठ संख्या-2

12) वही, पृष्ठ संख्या-6

13) सेंगर, शिवसिंह, शिवसिंह सरोज, संपादक- डॉ0 किशोरीलाल गुप्त, प्रयाग हिन्दी साहित्य सम्मेलन, 1970, पृष्ठ संख्या-657

14) वही, पृष्ठ संख्या-675

15) वही, पृष्ठ संख्या-709

16) वही, पृष्ठ संख्या-719

17) वही, पृष्ठ संख्या-742

18) वही, पृष्ठ संख्या-753

19) वही, पृष्ठ संख्या-760

20) वही, पृष्ठ संख्या-776

तीसरा अध्याय

द माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ नॉर्दन हिन्दुस्तान

और

इतिहास लेखन की समस्या

तीसरा अध्याय

द माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ नॉर्दन हिन्दुस्तान

और

इतिहास लेखन की समस्या

"उन्नीसवीं शती में सार्वभौमिक सत्ता से संम्पन्न जो मदमाता इतिहास-बोध मनुष्य की प्रगति और मुक्ति का सन्देश लाया था, वो हमारे समय तक आते-आते अपनी ही क्रूर पैरोडी में प्रतिध्वनित सा होता है। भविष्य को निर्धारित करने वाले नियम, क़ानून, फार्मूले अब भी हैं किन्तु उन पर बीसवीं शताब्दी के रक्त और यातना और मोह-भंग की इतनी गहरी काई जम चुकी है कि वे भविष्य के बंद तालों में कहीं फिट नहीं हों पाते। कैसा है ये वैज्ञानिक, तर्कशील, गौरवपूर्ण इतिहास-बोध, जिसने आज मनुष्य को स्वयं अपने ही भविष्य के प्रति इतना अरक्षित, आंतकित, अनाश्वस्त बना कर छोड़ दिया है।"[1]

इतिहास लेखन की प्रक्रिया का आरम्भ आधुनिक काल की महत्वपूर्ण परियोजनाओं में से एक रहा है या यूँ कहें कि मनुष्य में इतिहासबोध उत्पन्न होना एक युगान्तकारी घटना है, जो आधुनिक काल में घटित होती है। और यही इतिहासबोध उसे अपने इतिहास लेखन की ओर अग्रसर करता है। इस आधुनिक वैज्ञानिक एवं तार्किक समय में काल-विभाजन, नामकरण एवं प्रवृत्ति निरूपण इतिहासलेखन की प्रक्रिया का पर्याय बन जाते हैं। इसके अवाला चयन, व्याख्या, श्रेणीकरण और पुनर्निर्माण के आधार पर सामान्यीकरण द्वारा इतिहासलेखन पूर्ण होता है। इस सन्दर्भ में देखें तो 'द माडर्न वेर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ नॉर्दन हिन्दुस्तान' हिन्दी साहित्य का पहला इतिहास है जो आधुनिक अर्थों में इतिहासलेखन की पद्धति का अनुसरण करता है। हाँलाकि लेखक ने अपने ग्रन्थ को इतिहास कहने का जोखिम नहीं उठाया है।

इतिहास लेखन में मोटे तौर पर जिस पद्धति का प्रयोग किया जाता है वह है- 'विधेयवाद'। ग्रियर्सन ने अपने इतिहासग्रन्थ में इसी पद्धति को अपनाने का सर्वप्रथम प्रयास किया है। ध्यातव्य है कि ग्रियर्सन एक ऐसे राज्य के प्रतिनिधि के तौर पर हिंदी साहित्य के इतिहास के अनुकर्ता थे जिसने हिंदी जाति पर अपनी सत्ता कायम की हुई थी। ग्रियर्सन की इतिहासदृष्टि भी इसी अनुशंसा से प्रभावित थी। एक गुलाम जाति के साहित्य को परिभाषित करने की कोशिश उनके इतिहासग्रन्थ में सामान्य तौर पर देखी जा सकती है। यह इतिहास दृष्टि मुख्य रूप से ग्रियर्सन की प्राच्यवादी मानसिकता की ओर संकेत करती है। लेखक का इतिहास ग्रन्थ विधेयवादी पद्धति पर केंद्रित है और इस दृष्टि से इतिहास लेखन की समस्याओं को केन्द्र में रख कर समीक्षा करना उचित होगा। इसके साथ ही उनके भाषा-सर्वेक्षण सम्बन्धी ज्ञान को भी परखा जाएगा। डॉ. किशोरीलाल गुप्त ने लिखा है-" 'इतिहास' ना होते हुए भी सच्चे अर्थ में हिन्दी साहित्य का पहला इतिहास कहा जा सकता है।"[2]

ग्रियर्सन एक ऐसी यूरोपीय संस्कृति के प्रतिनिधि होकर आए थे जहाँ ऐतिहासिक चेतना केन्द्र में थी। जिसके आधार पर उन्होंने पिछड़े और विकसित समाज के भीतर अंतर पैदा किया। यूरोपियों के लिए यह स्वाभाविक बात थी कि वे भारत को उसकी वहशी रूढियों और अंधविश्वासों से मुक्त कराने का अभियान शुरू करें जो एक राष्ट्र की अवधारणा के बुनियादी आधार पर तथाकथित पिछड़ों को सभ्य बनाने की प्रक्रिया की भी शुरुआत थी। असल में हर राज्य सत्ता एक संस्कृति को भी साथ लाती है। फिर वर्चस्व की इच्छा आर्थिक से ज्यादा सांस्कृतिक हो जाती है। जिसे अनुभव तो किया जा सकता है लेकिन यथार्थ रूप में ठीक ठीक परिभाषित नहीं किया जा सकता।

यूरोप के लिए राष्ट्रवाद के युग के तौर पर जाना जाने वाला समय भारत जैसे देशों के लिए उपनिवेशवाद का युग या गुलामी का युग था। हमारी आधुनिकता हमारे यहाँ उपनिवेशवाद पर सवार होकर आती है। प्रगति, न्याय, समता और मुक्ति के जैसे आदर्शों से हमारा साबका ऐसे हालत में पड़ता है जहाँ एक सिविलाइजिंग मिशन के

तहत हम गुलाम बना लिए जाते हैं। आधुनिकता के साथ उपनिवेशवाद, यूरोप-केंद्रित सोच, विकसित और अविकसित समाजों में विभेद, 'सत्य' की अवधारणा और तीसरी दुनिया की लूट व भुखमरी भी आई है। विज्ञान और तर्क की शक्ति ने निरंकुश राज्य-व्यवस्थाओं को जन्म दिया। बाद में यही सार्वभौमिक सच कमजोर के दमन और उत्पीड़न के औजार बन गए।

इस प्राच्यवादी दृष्टि ने मनुष्य को आत्म और अन्य की कोटियों में विभाजित किया। हीगल ने अस्मिता को परिभाषित करते हुए कहा था कि 'वह हमेशा दूसरे के विरुद्ध होती है' और सात्र ने भी नरक को परिभाषित करते हुए कहा था कि 'नरक दूसरे लोग होते हैं'। यूरोपीय मनुष्य ने अपने आत्म को परिभाषित करने के लिए अन्य को गढा। 'आत्म' के लिए यह सोच पाना भी मुमकिन नहीं रह गया कि जहालत और पिछड़ेपन में जीने वाले 'अन्य' के पास भी सच का कोई टुकड़ा हो सकता है। 1960 के दशक में मानव-शास्त्र के शोधकर्ता लेवी-स्ट्रास ने 'अन्य' की अवधारणा को रचा था। उनका संरचनावाद कहता है कि कोई भी मूल्य सार्वभौमिक मूल्य कैसे माना जा सकता है? सम्पूर्णता एक मिथक है, धोखा है। एक भयानक चीज है। वो वर्चस्ववाद की ओर ले जाती है। लेवी-स्ट्रास का यह संरचनावाद जब साहित्य के क्षेत्र में रोला बार्थ, मिशेल फूको, देरिदा से होते हुए आया तो उसने विमर्श की एक पूरी परम्परा को ही बदल के रख दिया। उत्तर संरचनावादियों के सभी विचारकों ने ताकत की अवधारणा, ज्ञान के स्वरूप, अर्थों की निष्पत्ति और आत्म की सत्ता में छिपी राजनीति को बेनकाब किया है। एडवर्ड सईद उत्तर-औपनिवेशिक समय में विखंडन की पद्धति का प्रयोग करके वर्चस्ववादी मानसिकता को उद्घाटित करते हैं जो 'अन्य' की आवाज को हमेशा दबाती रही है।

1978 में प्रकाशित एडवर्ड सईद अपनी पुस्तक 'प्राच्यवाद' में लिखते हैं—"प्राच्यवाद पूरब पर आधिपत्य जमाने और उसकी पुनर्रचना करने की पाश्चात्य शैली है. . . प्राच्यवाद की ऐसी वर्चस्वशाली स्थिति रही कि कोई भी व्यक्ति जो पूरब के बारे में लिखता, सोचता या सक्रिय रहता रहा है। वह अपने विचारों और क्रियाकलाप पर प्राच्यवाद द्वारा थोपी गई सीमाओं को ध्यान में रखे बगैर सक्रिय नहीं रह सकता। ऐसा नहीं कि प्राच्यवाद, पूरब के बारे में जो कुछ भी कहा सुना जाता है, उसे एक तरफ़ा ढंग से निर्धारित करता है लेकिन वह (पश्चिमी) हितों का ऐसा संजाल है जो पूरब का प्रश्न उठने पर अनिवार्यतः असर डालता है।"[3] ग्रियर्सन के संदर्भ में देखें तो हमें यह साफ़ दिखाई देता है कि वे पहले भारतीय भाषाओं का अध्ययन करते है फिर भारत में आने के लिए भारतीय सिविल सर्विसेस की परीक्षा पास करते हैं। और यहाँ आने के बाद अपने मुख्य उद्देश्य की पूर्ति करते हैं, जो है भारत के भाषा-साहित्य की जांच-पड़ताल। जिससे उन्हें प्राच्य-विद्या संघ में मान सम्मान मिला और वे हमेशा के लिए अमर हो गए। भले ही भारत में उनके ग्रन्थ और साहित्य आज ना दिखें (क्योंकि उसना प्रणयन तो विदेशियों के लिए ही हुआ था) लेकिन यूरोप में उनके साहित्य की सभी पुस्तकें आज भी सुरक्षित हैं। उनके सभी कार्यों का पुनःप्रकाशन होता रहता है। भारत में भी उनकी सभी किताबें बिक्री के लिए ऑनलाइन उपलब्ध हैं।

3.1.हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास:ग्रियर्सन की इतिहास दृष्टि के कोण से

साहित्य के इतिहास के लिए जो दो बातें आवश्यक हैं कि वह हैं कि जिस साहित्य का परिचय दिया जाए वह काल क्रमानुसार हो हो तथा दूसरी उसमें इतिहास की अवधि का काल-विभाजन किया गया हो। इन दोनों लक्षणों की पूर्ति ग्रियर्सन के इतिहास ग्रन्थ 'द माडर्न वेर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ नॉर्दन हिन्दुस्तान' में सर्वप्रथम प्राप्त हुई। यह नाम से इतिहास न होते हुए भी कुछ अर्थो में हिन्दी साहित्य का पहला इतिहास

कहा जा सकता है। इसमें लेखक ने कवियों का काल-क्रमानुसार वर्गीकरण करते हुए उनकी प्रवृत्तियों को भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है। अतः इसी ग्रन्थ को हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास कहने का गौरव प्राप्त हुआ है।

इस ग्रन्थ का प्रणयन वस्तुतः विदेशी विद्वानों के लिए ही किया गया था। जिसकी प्रेरणा का स्रोत तब प्रारंभ होता है जब 1886 में प्राच्य विद्या विसारदों की अंतर्राष्ट्रीय सभा की वियना अधिवेशन में 'हिन्दुस्तान के मध्यकालीन भाषा साहित्य' पर डॉ. ग्रियर्सन ने एक लेख पढ़ा था। वह लेख विशेषकर मध्यकालीन भाषा साहित्य एवं गोस्वामी तुलसीदास के ग्रन्थ के संदर्भ में था। जाहिर है इस लेख की तैयारी डॉ. ग्रियर्सन ने बहुत वर्षों तक अध्ययन-शोध के बाद की थी। अपने शोध के क्रम में वे कई लेख छपवाते रहते थे। इस पूरी प्रक्रिया में उन्होंने सभी सामग्री का भी उपयोग करते हुए लेख प्रस्तुत किया था।

'हिन्दुस्तान के मध्यकालीन भाषा साहित्य' पर प्रस्तुत लेख प्राच्यविद्या विशारदों द्वारा बहुत प्रोत्साहित किया गया। इसी से प्रेरणा प्राप्त कर डॉ. ग्रियर्सन ने हिन्दुस्तान के संपूर्ण भाषा साहित्य पर ग्रन्थ लिखने का कार्य दिया। जिसमें उन्होंने अपने साहित्य सम्बन्धी अधिकतम शोध-कार्य को समेटने का प्रयास किया है। 'द माडर्न वेर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ नॉर्दन हिन्दुस्तान' का प्रकाशन रॉयल एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल की पत्रिका के विशेषांक के रूप में 1888 में हुआ। इसके बाद यह स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित हुआ। डॉ. किशोरीलाल गुप्त ने इस ग्रन्थ का अनुवाद किया। यह अनुवाद प्रथम बार सन 1957 में प्रकाशित हुआ। इस सन्दर्भ में ग्रियर्सन अपने ग्रन्थ की भूमिका में लिखते हैं-" 1886 ई. में वियना में हुए प्राच्य-विद्या विशारदों की अंतर्राष्ट्रीय सभा के अधिवेशन में तुलसीदास को विशेष रूप से ध्यान में रखते हुए हिंदुस्तान की मध्य-कालीन भषा और साहित्य पर एक लेख मुझे मिला था। इसकी तैयारी में उत्तरी हिन्दुस्तान के संपूर्ण भाषा साहित्य पर मुझे टिप्पणी प्रस्तुत करनी पड़ी जिसको मैंने कई वर्षों में एकत्र किया था यद्यपि उक्त

निबंध में 17 वीं शताब्दी के पूर्व लिखित साहित्य का ही एक अंश काम में लाया गया।

जिस दत्तचित्तता के साथ उक्त लेख सुना गया उससे प्रोत्साहित होकर मैंने इस ग्रन्थ में प्रारंभिक काल से लकर आजतक के हिन्दुस्तान के भाषा साहित्य की संपूर्ण रूप रेखा प्रस्तुत करने का प्रयास किया।"[4]

कहना न होगा कि जब ग्रियर्सन अपने ग्रन्थ का प्रणयन कर रहे थे उस से लगभग एक शती पूर्व से ही भारत में इतिहासलेखन के लिए खोज-कार्य प्रारंभ हो चुका था। भारत की प्राचीन, मध्यकालीन संस्कृति-सभ्यता के सांचे निर्धारित किए जा रहे थे। यह सभी अनुसंधान कार्य भारत में तो बाद में प्रारंभ होते हैं पर यूरोप में तो यह कई सदी पूर्व ही प्रारंभ हो चुके थे। इतिहासलेखन का वैज्ञानिक आधार कैसा हो इसके प्रतिमान तो पहले ही निर्धारित किए जा चुके थे जिसका वर्णन शुरुआत में किया जा चुका है। इसके साथ ही साहित्य के इतिहास के लिए क्या प्रतिमान होना चाहिए ? कौन सी पद्धति श्रेष्ठ मानी जा सकती है? यह सभी बातें पश्चिमी तथाकथित आधुनिक सभ्यताओं में निर्धारित की जा चुकीं थी। और उन्हीं पूर्वाग्रही दृष्टिकोण के आधार पर 'अन्य' के भाषा-साहित्य का इतिहास लेखन करने का महत्वाकांक्षी कार्य ग्रियर्सन ने किया। इसीलिए वे भलीभांति जानते थे कि साहित्य के इतिहासलेखन की के क्या आवश्यक शर्ते निर्धारित हैं और यदि उन्होंने अपने ग्रन्थ को इतिहास संज्ञा से विभूषित किया तो अवश्य ही उनके ग्रन्थ पर सवाल किए जायेंगे। जैसा कि गार्सा द तासी अपने ग्रन्थ को इतिहास कहने की भूल कर चुके थे। ग्रियर्सन लिखते है- "भाषा साहित्य के उन समस्त लेखकों की सूची मात्र होने के अतिरिक्त यह ग्रन्थ और कुछ होने का दावा नहीं करता, जिनका नाम मैं एकत्र कर सका हूँ और जो संख्या में 952, हैं तथा जिनमे कुल 70 का ही उल्लेख गार्सा द तासी ने अपने 'हिस्तवायर द ला लितरेत्योर हिन्दुई एं हिन्दुस्तानी' में इसके पहले किया है।"[5]

एंगेल्स ने अपने ऐतिहासिक भौतिकवाद के सुप्रसिद्ध विवरण में इतिहास के सारतत्व में निहित तत्व को रेखांकित करते हुए बताया है कि " एक सचेत उद्देश्य या एक अभिप्राय के बिना कुछ भी घटित नहीं होता।"[6] एक इतिहासकार के तौर पर ग्रियर्सन के पास भी अपना उद्देश्य और अभिप्राय था। ग्रियर्सन को यह बात भी भलिभांति ज्ञांत थी कि उनके द्वारा अपने ग्रन्थ में स्वीकृत कवियों पर भी तमाम तरह के सवाल उठाये जा सकते हैं। क्योंकि ऐसा तो नहीं था कि उनके आलावा कोई और यूरोपीय विद्वान भारत आकर उनके द्वारा किए गए सर्वेक्षण पर कार्य ही नहीं करेगा। अथवा परवर्ती समय में यह भी सम्भव था कि भारत में उनके जैसे ही तमाम महत्वाकांक्षी यूरोपीय हिन्दुस्तान के भाषा-साहित्य के इतिहास लेखन का कार्य करेंगे। जैसा कि एडविन ग्रीब्ज और केई ने भी अंग्रेजी में इतिहासलेखन का प्रयास किया था। जैसा कि पहले बता दिया गया है कि ग्रियर्सन उसी महत्वाकांक्षी परियोजना के एक अंग थे जिसकी परिणति 'प्राच्य-विद्या विशारदों' की अंतर्राष्ट्रीय सभा के रूप में हुई थी। इस सभा का कार्य ही यह था कि उपनिवेशी राज्यों के ज्ञान का संकलन, विचार और विश्लेषण हो। अतः यह जाहिर ही था कि जब ग्रियर्सन का ग्रन्थ उनके सम्मुख आएगा तब उनके संकलित विषय पर अवश्य ही सुधि पाठकों और विद्वानों द्वारा उनसे सवाल किए जाएंगे। इसीलिए इसकी जवाबदेही में वे पहले ही अपने ग्रन्थ में स्वीकृत विषय-क्रम पर दृष्टि डालते हुए लिखते हैं-" इस ग्रन्थ में स्वीकृत विषय-क्रम का सिद्धांत भूमिका में स्पष्ट किया गया है। अनेक कवियों के उल्लेख तो केवल नाम हैं और कुछ नहीं। इनको मैंने पुस्तक को यथासंभव पूर्ण बनाने के लिए सम्मिलित कर लिया है। जहाँ कहीं सूचना मुझे मिली है मैंने सम्बन्ध लेखक के आगे अंकित कर दिया है। मेरा विश्वास है कि कुछ स्थलों पर मैं यूरोपीय विद्वानों के सामने ऐसी सूचना प्रस्तुत कर सका हूँ जो आजतक उनके सामने कभी भी नहीं रखी गईं। उदाहरण के लिए मैं पाठकों से सूरदास संख्या (37) और तुलसीदास (संख्या128) पर लिखित लेखों की ओर संकेत करूँगा। मैं इस बात का दावा नहीं करता कि मैंने इन पृष्ठों में उल्लिखित विशाल साहित्य को पूर्णतया अथवा मुख्यतया पढ़ लिया है, किन्तु मैंने प्रायः उन सभी नौ सौ बावन लेखकों की कृतियों के नमूने पढ़े हैं, जिनके विवरण इस

ग्रन्थ में हैं। मैं यह भी दावा नहीं करता कि जो कुछ मैंने पढ़ा है, वह सब का सब समझा भी है क्योंकि अनेक उदाहरण तो इतने कठिन हैं कि बिना मौखिक अथवा लिखित टीका की सहायता के इनकी व्याख्या करने का प्रयत्न ही व्यर्थ है। विषय अत्यंत विस्तृत है और हमारे ज्ञान की वर्तमान स्थिति इतनी सीमित है कि ऐसे कार्य का प्रयत्न भी नहीं किया जा सकता।"[7]

इस प्रकार हम देखतें हैं कि ग्रियर्सन की दृष्टि कितनी विस्तृत है। वे अतीत, वर्तमान और भविष्य पर स्पष्ट रूप से नजर रखे हुए हैं। वे एक साहित्यकार होने के साथ ही भारत में प्रशासक के तौर पर आए थे और यहाँ उनकी एक प्रशासक की स्पष्ट दृष्टि साफ़ नजर आती है। जो अपनी वाणी को संयमित कर अपने ग्रन्थ के ऐतिहासिक महत्व को भी रेखांकित करता है और वो भी अपनी ही कमियों को सामने रख कर। सामान्य तौर पर यह देखा जाता है कि जो लेखक स्वयं किसी गंभीर लेखन को करने का दावा नहीं करता और ना ही अपने अध्ययन को महिमामंडित करता है उसके लेखन को बहुत आदर मिलता है। तुलसीदास को पढ़ते हुए हम यह देखते हैं कि वे यह बात बार-बार कहते हैं कि वे बहुत ही अकिंचन हैं। कबीर भी खुद को 'राम का कुत्ता' कहते हैं। और भविष्य में यही कविगन हिन्दी में सर्वोपरी पद के ही हकदार नहीं होते अपितु सामान्य जनमानस के हृदय में भी स्थान पाते हैं। ग्रियर्सन भी एक तरफ़ भावी जवाबदेही से भी अपने को बचा ले जाते हैं और अपने ग्रन्थ की कालजयिता भी निर्धारित कर कर देते हैं-" अतः मैं इसको एक ऐसे सामग्री संग्रह के रूप में ही, भेंट कर रहा हूँ जो नीवं का काम दे सके और जिस पर दूसरे लोग, जो मुझसे अधिक भाग्यशाली हैं और जिनके पास बंगाल के एक जिला कलेक्टर के अपेक्षा अधिक अवकाश है, निर्माण कर सकें।"[8]

ग्रियर्सन का महत्वपूर्ण साहित्यिक कार्य है- **'तुलसी का वैज्ञानिक अध्ययन'**। ऊपर वर्णित वियना की सभा में पढ़े गए लेख, विश्लेषित इतिहास-ग्रन्थ के अलावा ग्रियर्सन ने तुलसीदास पर अनेक निबंध लिखे हैं। जैसे-

1- नोट्स ऑन तुलसीदास, 1893 की इंडियन एंटीक्वेरी में प्रकाशित । इस निबंध में तीन नोट हैं। पहले में कवि सम्बन्धी तिथियों की ज्योतिष के अनुसार गणना है। दूसरे में कवियों की कृतियों पर विचार है। जिसमें इनके 6 छोटे और 6 बड़े ग्रथों को प्रामाणिक माना गया है। शेष को तुलसी की रचना नहीं स्वीकार किया गया है। तीसरे नोट में कवि सम्बन्धी परम्पराओं एवं जन् श्रुतियों पर विचार है।

2- तुलसीदास के कवित्त रामायण की रचना तिथि- 1898 ई0 में रायल एशियाटिक सोसायटी के जर्नल में प्रकाशित। इसमें कवितावली में वर्णित महामारी को 'प्लेग' बताया गया है।

3- तुलसीदास और बनारस में प्लेग विषयक दूसरा नोट उसी वर्ष उसी पत्रिका में प्रकाशित, इसमें सुधाकर द्विवेदी के इस अनुमान का उल्लेख है कि तुलसीदास की बाहुपीडा 'प्लेग की गिल्टी' थी।

4- तुलसीदास कवि और सुधारक रायल एशियाटिक सोसायटी के जर्नल

में 1930 में प्रकाशित। तुलसी की मृत्यु प्लेग से हुई । इस विचार को लेखक ने परित्याग दिया है। आधुनिक हिंदू धर्म और नेस्टोरियनों के प्रति उसका ऋण इसमें दिखाया गया है कि भारतीय भक्तमाल ईसाइयों का ऋणी है। यह निबंध 107 ई0 में उक्त लन्दन में ही छपा था।

5- तुलसीदास 1912, में प्रकाशित इम्पीरियल गजेटियर के लिए तुलसी पर लिखित निबंध

6- क्या तुलसीदास कृत रामायण अनुवाद ग्रन्थ है? 1913 ई. उक्त जर्नल में प्रकाशित । इस समय बलिया से एक संस्कृत रामायण प्रकाशित हुआ था, जिसको रामचरितमानस का मूल कहा गया था। इस निबंध में ग्रियर्सन ने इसका खंडनं किया है।

7- तुलसीदास 1921 ई0 में प्रकाशित इन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स के अंतर्गत ये लेख है।

साफ स्पष्ट है कि तुलसी के ग्रंथों की प्रमाणिकता, तिथि निर्धारण, उनकी बाहुपीड़ा को 'प्लेग' कहना। भक्तमाल को ईसाइयों की देन बताना। विदेशी विद्वानों को इस(तुलसी) महान साहित्यकार से सूक्ष्म रूप से परिचित करना। यह सभी ग्रियर्सन के उद्देश्य थे। जिसमे उनकी प्राच्यवादी दृष्टि के ही अंग है।

किशोरीलाल गुप्त लिखते हैं कि-"ग्रियर्सन ने 'सूर-सूर तुलसी शशी' की मान्य परंपरा को अपनी तुलसी की आलोचनाओं के द्वारा बदल दिया। उन्हें सूर की अपेक्षा तुलसी ईसाई मत के अधिक निकट जान पड़े। अपने पड़ोसियों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए इसका निदर्शन उन्होंने तुलसी में दिखाई पड़ा। तुलसी द्वारा चित्रित मानस के चरित्रों पर उनकी मर्यादावादिता पर वे मुग्ध हो गए और उनका विश्वास था कि यूरोपीय पाठक इन कारणों से सूर की अपेक्षा तुलसी को अधिक पसंद करेंगे। तुलसी पर ग्रियर्सन ने कोई बड़ा ग्रन्थ नहीं लिखा। भिन्न भिन्न समयों पर उन्होंने उन पर जो फुटकल निबंध लिखे , उनसे उन्होंने तुलसी के मनोवैज्ञानिक अध्ययन को अग्रसर किया।"[9] यहाँ बताने की आवश्यकता नहीं है कि तुलसीदास को हिन्दी साहित्य के इतिहास में कितना मान-सम्मान मिला। गुप्त जी तो तुलसी के मनोवैज्ञानिक अध्ययन की शुरुआत का श्रेय ग्रियर्सन को ही बताते हैं और ग्रियर्सन प्रायः 40 वर्षों तक तुलसी पर बराबर लिखते रहे और तुलसी संबंधी आलोचना का पथ-निर्देश करते रहे।

अन्य साहित्यिक अवदान

पटना में नियुक्ति के समय ग्रियर्सन ने पीजेंट लाइफ इन बिहार नामक ग्रन्थ रचा। गया में नियुक्ति के समय इन्होंने गया जिले का संक्षिप्त विवरण लिखा। हाबड़ा में उन्होंने बिहारी-सतसई, पद्मावत, भाषाभूषण और तुलसी कृत रामायण का संपादन किया। इसके आलावा कुछ अन्य साहित्यिक निबंध हैं-

1- नारैनिया और भागवत

2- अद्‌भुत रामायण

3-एक पुराना कुमायूंनी व्यंग्य

4-भक्तमाल की झाँकी

5-आल्हा विवाह के गीत

साहित्येतिहास लेखन की विधेयवादी –पद्धति

डॉ. ग्रियर्सन ने अपने ग्रन्थ में इतिहास की जो पद्धति अपनाई है वह प्रचलित रूप में विधेयवाद कहलाती है। नलिनविलोचन शर्मा ने ग्रियर्सन के ग्रन्थ को हिन्दी साहित्य के इतिहास का प्रथम विधेयवादी दृष्टि से लिखा गया इतिहास माना है वे लिखते हैं कि-" हिन्दी के विधेयवादी साहित्येतिहास के आद्य प्रवर्तक शुक्ल जी नहीं, प्रत्युत ग्रियर्सन हैं।"[10] आगे शर्मा जी ने शुक्ल जी का उदाहरण देते हुए बताया है कि वे अपने इतिहास ग्रन्थ के प्राक्कथन में यूँ तो उनसे पहले लिखे गए ग्रंथों को मात्र कवि-वृत्त संग्रह कहते हैं किन्तु मिश्रबन्धु विनोद का आभार स्वीकार करते हैं। वे लिखते हैं कि - 'कवियों के परिचयात्मक विवरण मैंने प्रायः मिश्रबंधु विनोद से ही लिए हैं।' किन्तु आभ्यंतर साहित्यिक प्रवृत्तियों और बाह्य परिस्थियों के बीच कार्य-कारण सम्बन्ध निरूपित करने के प्रयास के श्रेय का अधिकारी उन्होंने अपने से पूर्व के किसी विद्वान को नहीं माना है। वे लिखते हैं कि 'यह भी कहा जा सकता है कि ग्रियर्सन के प्रयास की जानबूझ कर उपेक्षा की गई है।' ग्रियर्सन के ग्रन्थ को पढ़ते समय बार-बार यह विचार आना स्वाभाविक ही है। नलिनविलोचन शर्मा का यह मत है और मुझे भी यह बात बहुत कुछ सही ही जान पड़ती है कि शुक्ल जी का ग्रन्थ भले ही हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन में मील का पत्थर साबित हुआ किन्तु ग्रियर्सन ने इतिहासलेखन की मानक विधेयवादी पद्धति का हिन्दी साहित्य में प्रवर्तन किया। जैसे शुक्ल जी का ही मानना है कि यदि चंद्रकांता उपन्यास ना लिखा गया होता तो

प्रेमचंद को हिन्दी पाठक न मिलते और वे हिन्दी-कथा साहित्य के शीर्ष पर ना विराजमान होते। क्योंकि देवकीनंदन खत्री के उपन्यास के कथ्य की लोकप्रियता ने सैकड़ों लोगों को हिन्दी सीखने की ओर अग्रसर किया। हिन्दी में एक बड़ा पाठक वर्ग तैयार करने का श्रेय उन्हीं को है। उसी प्रकार से हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन में एक वैज्ञानिक पद्धति जो, इतिहास लेखन के लिए मान्य है उसका श्रेय ग्रियर्सन को जाता है। जिसे शुक्ल जी ने अपने परिनिष्ठित रूप में इतिहास-ग्रन्थ के निर्माण में उपयोग किया।

ग्रियर्सन के ग्रन्थ में साहित्येतिहास लेखन की विधेयवादी पद्धति निम्न उद्धरणों से समझी जा सकती है-

1- "ग्रन्थ अध्यायों में विभक्त किया गया है। प्रत्येक अध्याय सामान्यतः एक काल विशेष की सूचक हैं। भारतीय भाषा काव्य के स्वर्णयुग, तेरहवीं शती एवं 17 वीं शदी पर मलिक मुहम्मद जायसी की प्रेम कविता से प्रारंभ करके ब्रज के कृष्ण-भक्त कवियों, तुलसीदास के ग्रंथों (जिन पर अलग से एक विशेष अध्याय ही लिखा गया है) और केशवदास द्वारा स्थापित कवियों के रीति सम्प्रदाय को सम्मिलित कर के कुल 6 अध्याय हैं, जो पूर्णतः समय की दृष्टि से नहीं विभक्त है बल्कि कवियों की विशेष वर्गों की दृष्टि से बंटे हैं।"[11]

2- "मलिक मुहम्मद के साथ हिन्दुस्तान की भाषा साहित्य का शैशव काल समाप्त समझा जा सकता है। विशाल देव के इस बच्चे में अब स्पंदन हुआ और इसे विदित हुआ कि अब यह दृढ़ और सबल हो गया है और गृद्ध के समान अपनी उड़ान लेने के लिए उसने अपने तरुण स्फूर्तिमान पँख पसर दिए। प्रारंभिक राजपूत चारणों ने संक्रमण काल में एक ऐसी भाषा में रचना की थी, जिसको ठीक ठीक या तो उत्तरकालीन प्राकृत अथवा राजपुताना की आधुनिक भाषा का प्राचीन रूप कहना सर्वथा कठिन है। यह शैशववस्था थी। फिर तरुनाई आई, जब बौद्ध धर्म द्वारा गृहीत स्थानों को

ग्रहण करने के लिए एक जनप्रिय धर्म का प्रादुर्भाव हो रहा था और अभिनव सिद्धांतों के प्रवर्तक महात्माओं को उस बोली में लिखना आवश्यक हो गया जिसे सर्वसाधारण समझता था। मलिक मुहम्मद और दोनों वैष्णव सम्प्रदायों के गुरुओं को अपना पथ निर्मित करना था और वे अनिश्चय के साथ इस दिशा में अग्रसर हो रहे थे जब वे लोग रचना कर रहे थे , उस समय बोली जाने वाली भाषा प्राकृत वही थी। जो आज भी ग्रामीण क्षेत्रों में बोली जाती है और उन्हें वही हिचक हुई होगी, जो स्पेंसर और मिल्टन को अपनी भाषा को लिखने में हुई थी। प्रारंभिक भाषा कवियों ने बड़ा साहस किया और उन्हें सफलता मिली।"[12]

3- "16 वीं तथा 17 वीं शती हिन्दुस्तानी भाषा साहित्य का श्रेष्ठ युग है। इस देश का प्रायः प्रत्येक महान साहित्यकार इसी युग में हुआ। इसके महान लेखक एलिजाबेथ युगीन हमारे महान लेखकों के समकालीन थे। हम अंग्रेजों को यह जानना बड़ा मनोरंजक होगा कि जब हमारा देश राजदूतों के द्वारा प्रथम बार मुग़ल दरबार से सम्बद्ध हुआ, जब ईस्ट इंडिया कम्पनी की स्थापना हुई और दोनों जातियां जब जल और स्थल के कारण इतनी पृथक और दूरस्थ थी उस समय दोनों राष्ट्र अपने साहित्यिक गौरव के चरम शिखर पर पहुँच गए थे।"[13]

4- "जिस समय वल्लभाचार्य के अनुयायी ब्रज को स्वसंगीत से मुखरित कर रहे थे, अन्तिदूर पर स्थित दिल्ली के मुग़ल दरबार में राज कवियों का एक मंडल ही एकत्र कर लिया था। जिसमें से कुछ साधारण प्रसिद्धि के ही कवि नहीं थे। टोडरमल जो महान अर्थमंत्री होने के अतिरिक्त उर्दू भाषा के तात्कालिक स्वीकरण के कारण थे। बीरबल, जो अकबर के मित्र और अनेक चमत्कारपूर्ण आशुकविताओं के रचयिता थे, अब्दुर्रहीम खान खाना और आमेर के मानसिंह ये सब स्वयं भाषा के लेख होने की अपेक्षा भाषा कवियों के आश्रयदाता होने की दृष्टि से अधिक प्रख्यात हैं, किन्तु नरहरी, हरिनाथ, करना और गंग अत्यंत उच्च कोटि के कवि समझे जाते हैं जो उचित ही है।"[14]

5- “राम का गुणानुवाद करने वाले सर्वश्रेष्ठ कवि तुलसीदास (उपस्थि 1600 ई0, मृत 1624) इन कवियों के मध्य में एक ऐसे स्थान सुशोभित करते हैं जो सर्वथा उनके ही योग्य हैं । चारों और से शिष्यों और अनुयायियों से घिरे रहने वाले ब्रज के वैष्णव सम्प्रदाय से प्रवक्ताओं से कहीं भिन्न वे बनारस में अपने यशोमन्दिर में अकेले ही इतने उच्चासीन थे, जहाँ कोई पहुँच ही नहीं सकता।... सतियों के तरु-राजि वेष्टित अंतर्पथ से पीछे दृश्यावलोकन करने पर हमें अपने उज्ज्वल प्रकाश में खड़ी हुई ऊनकी उद्दात प्रतिमा हिन्दुस्तान के रक्षक और पथप्रदर्शक के रूप में दिखाई देती है। उनका प्रभाव समाप्त नहीं हुआ; नहीं, यह बढ़ता ही जा रहा है, और निरंतर बढ़ता ही जा रहा है; जब हम तन्त्रारोहित बंगाल के भाग्य के संबंध में अथवा रात्रि में उत्सव के रूप में मनाई जाने वाली उन चंचल जात्राओं के संबंध में सोचते हैं जो कृष्ण-भक्ति के नाम पर निकाली जाती है तब हम निश्चय ही और उचित रूप में इस महापुरुष की प्रशंसा करते हैं जिसने बुद्ध के अंतर पहली बार मनुष्य को अपने पड़ोसियों के प्रति स्वकर्तव्य सिखाया और अपने उपदेश के ग्रहण करने में पूर्ण सफल भी हुआ।”[15]

6- “यह महान काल सूर की श्रृंगारी कविताओं और तुलसी की प्रकृति संबंधी कविताओं का ही युग नहीं था , यह काल काव्य को स्वव्यवस्थित करने वाले प्रथम प्रयास के कारण भी यश प्राप्त है। सूरदास और तुलसीदास में तो देवों की सी शक्ति थी और अपने समसामयिकों से वे परिष्कार और अनुपात ज्ञान में बहुत आगे थे लेकिन अन्य प्रारंभिक रचयिताओं की कृतियाँ उन विद्वानों के कानों में खटकती है जो पूर्ण रूपें संस्कृत पदावली के अभ्यस्त हैं इसलिए केशवदास आगे आए और उन्होंने काव्यशास्त्र के सिद्धांतों को सदा के लिए सदा के लिए स्थिर कर दिया। 17 वर्ष पश्चात 17 वीं शदी के मध्य में चिंतामणि त्रिपाठी और उनके भाइयों ने इनके द्वारा स्थापित नियमों को विकसित और पल्लवित किया। इस वर्ग के आचार्य कवियों की समाप्ति अत्यंत उचित रूप में 17वीं सदी के अंत में कालिदास त्रिवेदी से होती है, जो हजारा के रचयिता हैं जो कि हिन्दुस्तान के इस स्वर्ण कल कि रचनाओं के चयन का सर्वश्रेष्ठ और प्रथम विशाल संग्रह है।”[16]

7- “इस गौरवपूर्ण कवि (बिहारी) के साथ साथ हमारी हिन्दुस्तानी भाषा साहित्य के स्वर्णकाल का सर्वेक्षण समाप्त होता है। 18 वीं शती के प्रारंभ से ही एक अपेक्षाकृत अनुर्वर युग प्रारंभ होता है। यह मुग़ल साम्राज्य के पतन और ह्रास और मराठा शक्ति के आधिपत्य और पतन का युग था।”[17]

8- “19 वीं शती का पूर्वार्द्ध मराठा शक्ति के पतन से प्रारंभ होता है और ग़दर से समाप्त होता है। यह विशेषताओं से युक्त एक अन्य युग है। पिछली शती के आभाव के पश्चात यह पुनः जागरण काल है। मुद्रण-यंत्र का प्रवेश उत्तर भारत में पहली बार हुआ और तुलसीदास से प्रेरणा प्राप्त कर एक स्वस्थ ढंग का साहित्य शीघ्रता से सम्पूर्ण देश में ओरछोर फ़ैल गया।”[18]

इस प्रकार हम देखते हैं कि ग्रियर्सन ने ग्रन्थ की भूमिका में जो ‘विषय क्रम का सिद्धांत’ दिया है उसमें इतिहास लेखन के विधेयवाद का सिद्धांत है।

इसके अलाव भी उन्होंने पूरे इतिहास ग्रन्थ में यही पद्धति अपनाई है। जैसे उन्होंने हिन्दी –अंग्रेजी- संस्कृत और बंगला के साहित्य की तुलनात्मक विवेचना भी की है। कवियों के व्यक्तित्व और प्रभाव का वर्णन भी किया है। प्राचीन काल के कवियों के सन्दर्भ में उन्होंने उनका विवरण ही नहीं दिया है अपितु उनके साहित्य की शैली पर भी विचार किया है। उनका महत्व निर्धारित किया है। जो शुक्ल जी की विशेषता है। इसके साथ ही उन्होंने मुग़ल दरबार और अन्य साहित्य रचना के केन्द्रों का भी निर्देश दिया है।

उनके इतिहास ग्रन्थ में अपनाई गयी यह पद्धति भले ही उच्च-शिक्षण केन्द्रों में विवाद का विषय हो गयी है किन्तु अभी भी प्राथमिक स्तर पर छात्रों को इसी पद्धति पर इतिहास का ज्ञान करवाया जाता है। साहित्य के इतिहास में यह पद्धति और अधिक विवाद का विषय है। जो इतिहास ‘कला और विज्ञान’ के एक लम्बे विमर्श को पैदा

करता है। खैर, विमर्शों के इस दौर में 'साहित्येतिहास लेखन की समस्याओं पर विमर्श ही शोध का का उद्देश्य है।

ग्रियर्सन का ग्रन्थ 3 भागों में विभक्त है- 1- प्रस्तावना, 2- मूल ग्रन्थ,3- अनुक्रमणिका। प्रथम खंड में 3भाग हैं- प्रस्तावना, भूमिका, शुद्धि पत्र परिशिष्ट।

द्वितीय खंड मूल ग्रन्थ है। यह 12 अध्यायों में विभक्त है। प्रत्येक अध्याय में प्रायः तीन अंश हैं। इन्हें सामने परिचय, प्रधान कवि परिचय, और अप्रधान कवि सूची नाम दिया जा सकता है। अध्यायों की नाम सूची यह है-

1- चारण काल, 2- 15 वीं शती का धार्मिक पुनरुत्थान, 3- मलिक मुहम्मद का प्रेम-काव्य, 4- ब्रज का कृष्ण सम्प्रदाय, 5-मुग़ल दरबार, 6- तुलसीदास, 7- रीतिशास्त्र अथवा तुलसीदास के अन्य परवर्ती क) धार्मिक कवि, ख) अन्य कवि , 9- 18 वीं शताब्दी- क) धार्मिक कवि, ख) अन्य कवि, 10- कंपनी के अंदर हिन्दुस्तान क) बुंदेलखंड और बघेलखंड, ख) बनारस, ग) अपवाद, घ) अन्य, 11- विक्टोरिया की छत्रछाया में हिन्दुस्तान, 12- विविध।

तीसरे खंड में तीन अनुक्रमणिकाएं हैं। पहली में व्यक्ति-नाम सूची, दूसरी में ग्रन्थ नाम-सूची एवं तीसरी में स्थान नाम सूची दी गयी है। इन नामों के आगे जो संख्या दी गयी है वह पृष्ठों की ना होकर कवियों की है।

ग्रियर्सन द्वारा अपनाए(बताए) गए आधार ग्रन्थ

1- भक्तमाल –नाभादास

2- गोसाईं चरित्र – बेनिमाधवादास

3- कविमाला –तुलसी

4- हजार- कालिदास त्रिवेदी

5- काव्यनिर्णय –भिखारीदास

6- सतकवि गिरा विलास- बलदेव

7- सूदन द्वारा प्रशंसित कवि-सूची – सूदन

8- विद्वंमोद तरंगिनी- सुब्बसिंह

9- राग सागरोदभवराग कल्पद्रुम – कृष्णानंद, व्यासदेव

10-श्रृंगार संग्रह – सरदार

11- भक्तमाल का उर्दू अनुवाद- तुलसीराम

12- रसचंद्रोदय –ठाकुर प्रसाद त्रिपाठी

13- दिगविजय भूषण – गोकुल प्रसाद

14- सुंदरी तिलक – हरिश्चंद्र

15- काव्य संग्रह- महेशदत्त

16- कवित्त रत्नाकर- मातादीन

17- शिवसिंह सरोज – शिवसिंह सेंगर

18- विचित्रोपदेश – नकछेदी तिवारी

इन आधार ग्रंथों के विषय में किशोरीलाल गुप्त ने लिखा है-" इन 18 ग्रंथों में से 17वाँ सरोज है, 18 वाँ परवर्ती ग्रन्थ है, प्रथम 16, सरोजज की पूर्ववर्ती रचनाएँ हैं। इनमे से केवल श्रृंगार संग्रह ही ऐसा है जिसका उल्लेख शिवसिंह ने नहीं किया है। शेष 15 की सहायता उन्होंने ली है। ग्रियर्सन इन सभी ग्रंथों से सहायता लेने का उल्लेख करते है, पर यह ठीक नहीं प्रतीत होता । उन्होंने केवल निम्नांकित 5 ग्रन्थ की सहायता ली है- 1- रागकल्पद्रुम, 2- श्रृंगार संग्रह, 3- सुन्दरी तिलक, 4- शिवसिंह सरोज, 5- विचित्रोपदेश।"[19]

आगे उन्होंने इस पर बहुत शोध कर के बताया है कि किस प्रकार से ग्रियर्सन ने बड़े परिश्रम पूर्वक 'रागकल्पद्रुम' को देखा था और ग्रियर्सन के बताए एक एक आधार ग्रन्थ को उनके ग्रन्थ के साथ मिलाकर उन्होंने ये साबित किया है कि किस प्रकार से इन पांच के अलावा 13 ग्रंथों को ग्रियर्सन ने सरोज की आँखों से देखा था। उन्होंने ग्रियर्सन के ग्रन्थ का भी अनुवाद एवं स-टिप्पण संपादन किया है और शिवसिंह सरोज का भी स-टिप्पण संपादन किया हैं। इसके अलावा उन्होंने सरोज-सर्वेक्षण ग्रन्थ (जो कि शिवसिंह सरोज ग्रन्थ के कवि विषयक तथ्यों एवं तिथियों का शोध-विश्लेषण है) एवं हिन्दी साहित्य के इतिहासों का इतिहास नामक एक पुस्तक भी प्रकाशित की है। अतः उन्होंने सभी प्रारंभिक इतिहास ग्रंथों के आधार-ग्रन्थ, तिथियों, कवियों की प्रमाणिकता आदि की जाँच-पड़ताल में पर्याप्त अनुसंधान कर के इन ग्रंथो का प्रकाशन किया है। अपने इन अनुसंधानात्मक कार्यों और अनुवादों से उन्होंने हिन्दी साहित्य के प्रारंभिक इतिहास लेखन की समस्याओं पर विचार करने के लिए पर्याप्त सामग्री उपलब्ध करवाई। उनका ग्रियर्सन के ग्रन्थ पर लिखा शोध-आलेख उनकी तीनों पुस्तकों (सरोज सर्वेक्षण, हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास, हिन्दी साहित्य के इतिहासों का इतिहास)में, पुस्तकों के प्रयोजन के अनुसार थोड़े बहुत संशोधित रूप में उपलब्ध है।

ग्रियर्सन ने कुछ और भी ग्रंथों की सहायता से अपना ग्रन्थ तैयार किया है जिसका विवरण उन्होंने आधार- ग्रन्थ में नहीं दिया है किन्तु सभी जगह पर उसका उल्लेख है।

1- गार्सा द तासी के प्रथम संस्करण का प्रयोग

2- रेलिजस सेक्ट्स ऑफ हिन्दूज – विलसन

3- आनाल्स एण्ड एंटीक्विटीज ऑफ राजस्थान –जेम्स टाड

4- जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल (विशेषकर अंक 53)

उपर्युक्त ग्रंथों की जांच-पड़ताल गुप्त जी ने पर्याप्त रूप में की है। जिसके विश्लेषण की यहाँ आवश्यकता नहीं है। जहाँ गुप्त जी ने 1957 ई0 में ही यह बात प्रमाणित कर दी थी कि ग्रियर्सन के देशी आधार ग्रन्थ कितने भ्रामक हैं वहीं 1973 में डॉ0 गणपतिचंद्र गुप्त ग्रियर्सन के आधार ग्रंथों में प्रमाणिकता की बात करते हैं। जो इतिहास लेखक के लिए आवश्यक है -" उन्होंने अपने आधार ग्रन्थ के स्रोत के रूप में तासी एवं शिवसिंह सेंगर के ग्रंथो के अतिरिक्त गोसाई चरित्र, हजारा, काव्य-संग्रह आदि 17 रचनाओं का उल्लेख करते हुए मूलाधारों के सन्दर्भ संकेत भी दिए हैं, जिससे उस तटस्थता, प्रामाणिकता और ईमानदारी का बोध भी होता है जो किसी भी इतिहासकार के लिए आवश्यक है। यह दुर्भाग्य की बात है कि परवर्ती-हिन्दी साहित्यकारों द्वारा इस परंपरा का निर्वाह सम्यक रूप में नहीं हो सका।"[20] हाँलाकि परवर्ती साहित्यकारों के बारे में कही गयी बात प्रमाणिकता और तटस्थता की बात सही मानी जा सकती है। आचार्य शुक्ल ने ग्रियर्सन के ग्रन्थ की पर्याप्त उपेक्षा की है।

किशोरीलाल गुप्त ने ये भी गणना की है ग्रियर्सन के ग्रन्थ में कुल 951 कवि हैं। जिनमें से 65 कवि विल्सन के ग्रन्थ, एशियाटिक सोसायटी के जर्नल, से लिए गए हैं और बाकी के 886 कवियों का उल्लेख मात्र सरोज के सहारे किया गया है। जो कुल का 94 प्रतिशत है। ग्रियर्सन अपने ग्रन्थ की भूमिका में लिखते हैं-" एक देशी ग्रन्थ जिस पर मैं अधिकांश में निर्भर रहा हूँ और प्रायः सभी छोटे कवियों और अनेक प्रसिद्द कवियों के भी संबंध में प्राप्त सूचनाओं के लिए जिसका मैं ऋणी हूँ, शिवसिंह सेंगर द्वारा विरचित और मुंशी नवलकिशोर लखनऊ द्वरा प्रकाशित द्वितीय संस्करण, अत्यंत लाभदायक शिवसिंह सरोज है। यह पूर्व रचित अनेक संग्रहों के आधार पर संकलित एक काव्य संग्रह है। निम्नांकित में से अधिकांश सरोज के आधार रहे हैं। सरोज के अतिरिक्त मैंने स्वयं भी उन सभी उपलब्ध काव्य संग्रह का सदुपयोग किया है। जिन्हें मैं एकत्र कर सका हूँ। इनमें से अनेक संग्रह ऐसे भी हैं, जिनकी सहायता पहले ही सरोज में ली जा चुकी है।"[21]

आगे ग्रियर्सन ने साफ़ बताया है कि उन्होंने सरोज में उल्लेखित कवियों और उनके ही तिथियों को प्रामाणिक माना है। हाँलाकि कुछ के सम्बन्ध में उपस्थित काल ही हैं। काल-निर्धारण के संबंध में सरोज ही उनका 'पथ-प्रदर्शक रहा है। गुप्त जी ने गहन विश्लेषण से बताया है कि सरोज ने अपने ग्रन्थ में जो रचनाकारों का उपस्थित काल दिया था वह तीसरे संस्करण के नवल किशोर प्रेस के संस्थापकों ने कागज़ की बचत के लिए 'में उत्पन्न हुए' या 'उ.' लिख कर मुद्रण पद्धति में परिवर्तन कर दिया। बाद में कवियों के उपस्थित काल, कवियों के जन्म काल के रूप में माना जाने लगा था। और ग्रियर्सन ने तो उसे पहले ही कवियों का जन्म काल मान लिया हैं। अब इसमें उनका दोष नहीं, जिससे एक भारी भूल हो गयी। उन्होंने बाताया है कि 440 कवियों की तिथियाँ सरोज से ही ली गईं हैं। गुप्त जी ने पूरी सारणी प्रस्तुत की है, जिनके सम्वत सरोज से लिए गए हैं। वे बताते हैं कि ग्रियर्सन ने सरोज के द्वितीय संस्करण के प्रयोग की बात सिद्ध की है किन्तु पर्याप्त खोजबीन से यह प्रमाणित किया है कि ग्रियर्सन तृतीय संस्करण का प्रयोग किया है। यदि दूसरे का किया होता तो कभी भी उपस्थित काल को जन्म-काल मानने की भूल नहीं करते। सरोज ने जिसे 1878 में विद्यमान कहा था, ग्रियर्सन ने उसे 1883 में भी विद्यमान मान लिया। 198 कवियों की की तिथियाँ सरोज की तिथियों से भिन्न हैं।

सरोज ने काल निर्धारण में संवत् का प्रयोग किया है, ग्रियर्सन ने ई0 सन् का प्रयोग। बाद में उन्होंने ग्रियर्सन और सरोज के कवियों की संख्याओं की दृष्टि से तुलना की है। यहाँ तक कि उन्होंने ग्रियर्सन, सरोज और मिश्रबंधु विनोद के कवियों की तुलनात्मक सारणी भी अपने सरोज-सर्वेक्षण में प्रस्तुत की है। ग्रियर्सन के ग्रन्थ का सम्पादन करते समय भी उन्होंने अनुक्रमणिका में सरोज और ग्रियर्सन के कवियों की संख्याओं की तुलना की है।

ग्रियर्सन ने अपनी भूमिका में अपने अनुसंधान का विवरण देते हुए ये बात बताई हैं कि उन्होंने बहुत से देशी- ग्रन्थ संकलित किए थे। बाजार से खरीद-खरीद कर, और

जांच के लिए विलसन और तासी के ग्रन्थ को उन्होंने देखा। और जब सूचना भिन्न प्रतीत हुई तो उन्होंने और खोजबीन जारी रखी। अंग्रेजी के एक मात्र ग्रन्थ टाड का राजस्थान ही उन्होंने प्रमाणित माना और और देशी सूत्रों से उनके ग्रन्थ की भी जांच की। इस संबंध में उदयपुर के पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पांड्या को वे धन्यवाद देते हैं।

इस प्रकार देखें तो ग्रियर्सन ने सभी प्रकार से प्रमाण प्रस्तुत करने की कोशिश की है। वे शिवसिंह का आभार बार बार अपने ग्रन्थ में प्रकट करते हैं-"इतने वृहत साहित्य को पूर्णतया और पूर्ण रूप में वर्णित करना मेरे लिए अत्यंत कठिन था।....हिन्दुस्तान में कोई भी स्वतन्त्र- समीक्षा –पत्र नहीं है...हाँ, शिवसिंह सरोज में आए हुए नामों से मुझे अवश्य सहायता मिली। पूर्व युगों के लिए तो ओसानेवाली समय की डलिया मेरी सहायिका है, जिसने भूसा उड़ा दिया था और हमारी परख के लिए अन्न एकत्र कर दिया था। किन्तु इस समय तो न केवल भूसे का अनुपात अन्न से अधिक है, बल्कि, दोनों अभी तक एक ही मिले जुले पड़े हुए हैं, अलग भी नहीं हुए।"[22] दरअसल देखें तो यहाँ भी ग्रियसन की इतिहासलेखक की दृष्टि स्पष्ट नजर आती है। ग्रियर्सन का ग्रन्थ भी परवर्ती लेखकों के लिए ओसाने वाली डलिया ही है।

ग्रियर्सन ने कहीं कहीं तो अनुवाद बहुत ही गलत कर दिए हैं और कहीं कहीं वे सरोज का ही पूर्णतः अनुवाद भी कर देते हैं। गुप्त जी ने इसकी भी पर्याप्त चर्चा की है। कवि परिचय की जो प्रणाली सरोज में दी गयी थी ग्रियर्सन ने उसी को अपना लिया। ग्रियर्सन ने प्रत्येक कवि को एक संख्या दी है। उक्त संख्या पर कवि को सरलतापूर्वक देखा जा सकता है। मिश्र बंधु विनोद में इसी पद्धति को अपनाया गया है। कवियों के वर्णन संक्षेप में हैं।

18 कवियों के विवरण काफी विस्तारपूर्ण दिए हुए हैं। इन 18 कवियों में प्रायः समस्त महत्वपूर्ण कवि आ जाते हैं- चंदवरदाई, जाग्निक, शार्गंधर, कबीरदास, विद्यापति, मलिक मुहम्मद जायसी, वल्लभाचार्य, बिट्ठलनाथ, सूरदास, नाभादास,

बीरबल, तुलसीदास, बिहारीलाल, सरदार कवि, हरिश्चन्द्र, लल्लूजी लाल, कृष्णानंद व्यासदेव, तथा राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिंद'। "जायसी और तुलसी पर इन ग्रन्थ में अलग अलग अध्याय हैं। इन्हीं अध्यायों ने संभवतः शुक्ल जी का ध्यान इन कवियों की तरफ आकृष्ट किया। विद्यापति और अन्य मैथिल कवियों की वर्णना हिन्दी साहित्य के इतिहासों में जो होने लगी है, उसका भी बहुत कुछ श्रेय ग्रियर्सन के इस ग्रन्थ को है।"[23]

अपनी दृष्टि और पद्धति पर प्रकाश डालते हुए ग्रियर्सन ने लिखा है कि उन्होंने सामग्री को यथा संभव कालक्रमानुसार प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इस ग्रन्थ में पहली बार कवियों का कालक्रमानुसार वर्णन किया गया है। ग्रन्थ को काल-क्रम में विभाजित किया गया है। मिश्र बंधुओं ने बहुत कुछ इसी काल- विभाजन को स्वीकार किया है। ग्रन्थ को काल-खण्डों में विभक्त किया गया है। तथा प्रत्येक अध्याय काल विशेष का सूचक है। प्रत्येक काल के गौण कवियों का अध्याय विशेष के अंत में उल्लेख किया गया है। विभिन्न युगों की काव्य प्रवृत्तियों की व्याख्या करते हुए उनसे संबंधित संस्कृति परिस्थितियों और प्रेरणा स्रोतों के उद्घाटन का भी प्रयास उनके द्वारा हुआ है। आगे चलकर इनके काल-विभाजन और कालगत प्रवृत्तियों को आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने विस्तार और पूर्णता प्रदान की।

ग्रियर्सन ने हिन्दी साहित्य के विकास का निर्धारण चारण काव्य, धार्मिक काव्य, प्रेम काव्य, दरबारी काव्य के रूप में करना तथा 16 वीं 17वीं सदी के युग को स्वर्ण-युग माना है। जो भक्ति-काल के अंतर्गत आता है। जिन्हें परिवर्तित और संशोधित कर परवर्ती साहित्यकारों ने भारी श्रेय हासिल किया। " वस्तुतः 19वीं सदी के अंतिम चरण में जबकि हिन्दी साहित्य क्षेत्र में आलोचना एवं अनुसंधान की परम्पराओं का श्री-गणेश भी नहीं हुआ था। हिन्दी भाषा एवं उनके काव्य की ऐसी स्पष्ट, सूक्ष्म एवं

प्रामाणिक व्याख्या प्रस्तुत कर देना ग्रियर्सन की अद्‌भुत प्रतिभा शक्ति एवं गहन अध्ययनशीलता को प्रमाणित करता है।"[24]

ग्रियर्सन का यह ग्रन्थ वास्तव में हिन्दी साहित्य के इतिहास की आधारशिला है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल का हिन्दी साहित्य का इतिहास वस्तुतः इसी आधार पर टिका है। ग्रियर्सन की खोज और रिपोर्टों की परंपरा पर मिश्रबंधुओं ने अपना ग्रन्थ 'मिश्रबंधु विनोद' लिखा। वस्तुतः अनेक विद्वान यह मानते हैं कि ग्रियर्सन ही विधेयवादी इतिहास लेखन के प्रथम प्रवर्तक हैं। उनका ग्रन्थ अंग्रेजी में रचित होने के कारण संभवतः उनके समकालीन भारतीय विद्वानों के लिए बहुत अधिक उपयोगी न सिद्ध हुआ। अपितु अनेक परवर्ती इतिहासकारों ने ग्रियर्सन की विचारधारा, चिंतन और स्थापनाओं को अपना कर भारी यश अर्जित किया है।

3.2. ग्रियर्सन की भाषा- नीति

हिन्दी साहित्य के इतिहास की जब हम भाषाई दृष्टि से विवेचना करते हैं तो हम पाते हैं कि हिन्दी भाषा की समस्या जटिल प्रसंग हैं। जिसमें तीन-चार जटिलताएं हैं। पहली जटिलता तो यह है कि जिसे हिन्दी साहित्य का इतिहास कहा जाता है वह आधुनिक काल के व्यापक रूप से लोक भाषाओं का साहित्य है। मैथिली का, अवधी का, भोजपुरी का, ब्रजभाषा आदि जो भाषाएँ हैं , उनका साहित्य है। और साथ ही आधुनिक काल के इतिहास में हिन्दी का जो साहित्य खड़ी बोली का साहित्य है। यह क्यों जुड़ा? खड़ी बोली का विकास कैसे हुआ? यह एक महत्वर्पूण विषय है।

जब हम इस खोज में निकले हैं कि हिन्दी के आरंभिक इतिहासलेखन में इतिहास की कौन कौन सी समस्याएं हैं तो हम ये भी पाते हैं कि वर्तमान सन्दर्भ में इन इतिहास-ग्रंथों में अपनाई गयी प्रणाली भी कहाँ तक औचित्यपूर्ण है। दूसरे शब्दों में कहें तो इन ग्रंथों ने वे कौन से प्रतिमान निर्धारित कर दिए जो आगे आने वाले इतिहासलेखकों के लिए भी अनुकरणीय हो गए किन्तु उत्तर-आधुनिक काल में उन पर प्रश्न-चिन्ह लगाये

गए। और जब भाषा संबंधी सीमाओं की दृष्टि की बात है तो इस मायने में ग्रियर्सन का ग्रन्थ 'मील का पत्थर' माना जा सकता है।

वस्तुतः डॉ0 ग्रियर्सन मूल रूप से भाषा वैज्ञानिक थे और उन्होंने हिन्दुस्तान की आधुनिक भाषाओं पर गहन अध्ययन किया था। आयरलैंड के डबलिन में 1851 में जन्मे जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने बी. ए. की उपाधि ट्रिनिटी कॉलेज से प्राप्त की और साथ ही उन्होंने राबर्ट एटकिंसन से संस्कृत सीखी एवं मीर औलाद अली से हिन्दुस्तानी सीखी। इन दोनों भाषाओं में बहुत अच्छी योग्यता प्राप्त करने पर इन्हें कॉलेज द्वारा पुरस्कृत भी किया गया।

ग्रियर्सन 1873 ई. में हिन्दुस्तान आए। यहाँ यह बंगाल के जैसौर जिले में नियुक्त हुए। कुछ ही दिनों बाद इनकी बदली अकाल के महकमे में हो गयी। और यह बिहार दुर्भिक्ष पीड़ित प्रजा की रक्षा के लिए भेजे गए। अब इनकी नियुक्ति तिरहुत में हुई। यहाँ की भाषा इन्हें बंगला और हिन्दी से अलग जान पड़ी। इन्होंने समझा कि जो युरोपीय भारत सरकार की सेवा में आते हैं वे प्रायः बंगला या हिन्दुस्तानी जानते हैं। पर केवल इन दोनों भाषाओं के ज्ञान काम नहीं चला सकता। यही से ही ग्रियर्सन को इस भाषा के कोश और व्याकरण की आवश्यकता प्रतीत हुई। अकाल समाप्त होने के बाद जब ग्रियर्सन हाबड़ा, मुर्शिदाबाद और रंगपुर आदि जिलों में जब काम कर रहे थे तभी वे बंगाल की रायल एशियाटिक सोसायटी में शामिल हो गए। तभी उन्होंने रंगपुर की विचित्र भाषा का व्याकरण बनाया। उन्होंने इस भाषा के नमूने भी प्रकाशित किए। 1877 ई. में वे दरभंगा जिले में मधुबनी के सब-डिविजनल अफसर रहे। यहाँ इन्होंने तीन साल तक निवास किया। यहाँ पर इन्होंने मैथिली का सांगोपांग व्याकरण बनाया।

1880 में ग्रियर्सन बीमार हो गए फिर वे वापस यूरोप चले गए। फिर वहाँ उन्होंने विवाह किया और अपनी पत्नी के साथ वापस हिन्दुस्तान आए। वापस आने के बाद वे बिहार में स्कूलों के इंस्पेक्टर रहे। अब उन्हें कैथी लिपि के टाइप ढलवाने का कार्य सरकार द्वारा सौंपा गया था। किशोरीलाल गुप्त लिखते हैं कि "कैथी के अक्षर

महाजनी मुड़िया के समान भोंडे थे, आपने (ग्रियर्सन) उन्हें नागरी के समान सुन्दर और सुडौल बना दिया।"[25] इस प्रकार ग्रियर्सन ने भारत में रहते हुए भारत की आधुनिक भाषाओं पर बड़ी गंभीरता पूर्वक कार्य जारी रखा था।

ग्रियर्सन को पता था कि यूरोपीय अभी तक भारत की प्राचीन भाषाओं के अध्ययन – अध्यापन में लगे हुए हैं और भारत की प्राचीन भाषा में लिखित ग्रंथों से वर्तमान के लिए जरूरी ज्ञान-विज्ञान की खोज का प्रयास कर रहे हैं। यहाँ यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि संस्कृत भाषा की वैज्ञानिकता, उसके साहित्य की चिरकालिक उपयोगिता को तमाम राष्ट्रवादियों ने बाद में सांस्कृतिक गान के रूप में गाया है। और उसका श्रेय भी यूरोपीय विद्वानों को जाता है जिन्होंने भारतियों को उनकी अमूल्य विरासत की ओर ध्यान आकर्षित किया। ग्रियर्सन ने इसी परम्परा में एक नया अध्याय जोड़ा।

ग्रियर्सन अपने यूरोपीय पाठकों को भारत की वर्तमान भाषा-साहित्य का ज्ञान देने की जिम्मेदारी उठाते हैं और उसकी उपयोगिता निर्धारित करते हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थ की प्रस्तावना में लिखा है-" नव भारतीय भाषाओं के सम्बन्ध में लिखने के लिए क्षमा याचना अब उतनी आवश्यक नहीं है जितनी वह बीस बरस पहले हुई होती। प्रथम तो यूरोपीय प्राच्य [यूरोपीय] विद्या विशारद मात्र संस्कृत की समाराधना में रत रहे, फिर बर्नफ़ की देखरेख में उन्होंने पाली पर धावा किया। पिछले दिनों अमर प्राकृतों ने विद्यार्थियों का ध्यान आकर्षित किया। इस प्रकार हमारे शोध विषय का काल दिन-दिन और भी आधुनिक होता गया। अब मैं अपने पाठकों से प्रार्थना करूँगा कि वे उस लघु अंतर के ऊपर एक डग और धरें, जो पिछली प्राकृत को प्रारंभिक गौड़ीय साहित्य से विलग करता है। ....

.. इतने पर भी यह सम्भव है कि प्राच्य विद्याओं के कुछ विद्यार्थी अब भी संस्कृत से पुराने प्रेम के साथ चिपके रहें उनसे मैं आगे के इन पृष्ठों में सुलभ उस वैभवपूर्ण

असंस्कृत सामग्री की परीक्षा करने के लिए कहूँगा, जिसमें कठिन संस्कृत ग्रंथों के अनेक भाषाभाष्यों के तथा व्याकरण, छंद; शास्त्र, शब्द संग्रह और ऐसे ही अन्य अनेक विषयों पर लिखित शास्त्रीय ग्रंथों के नाम हैं। भाषा कवियों में अपने ग्रन्थ में उनका रचनाकाल एवं अपने आश्रयदाता के उल्लेख करने की पद्धति होने के कारण हिन्दुस्तान के साहित्य में, शिला-लेखों के विद्यार्थियों को भी एक उर्वर खान मिलेगी। इसके अतिरिक्त, संस्कृत साहित्य में मूक बना हुआ इतिहास भी, इन भाषा कवियों द्वारा बराबर लिखा गया है और आज भी ऐसे ऐतिहासिक ग्रन्थ उपलब्ध हैं जिनका आधार वह सामग्री है, जो सुदूर नवीं शती में लिखी गईं थीं। अतः मैं केवल उन विद्वानों के ही समक्ष नहीं, जिन्होंने प्राकृत साहित्य की ही अब तक आराधना की है, बल्कि उन विद्वानों के भी समक्ष जो नैषध की जटिलताओं में भ्रमण करना पसंद करते हैं अथवा ' द इंडियन ऐंटीक्वेरी' के 'कॉपर-प्लेट-ग्रांट्स' में ही लगे रहना चाहते हैं, ध्यानाकर्षण के इसके अधिकारों को प्रस्तुत करने का साहस करता हूँ।"[26] इस प्रकार ग्रियर्सन स्पष्ट बता रहे हैं कि उनके ग्रन्थ का हेतु प्राच्य अध्ययन-आध्यापन को समृद्ध करने के लिए है। भारत की आधुनिक भाषाओं पर लिखना केवल वर्तमान ही नहीं प्राचीन साहित्य को समझने में भी सहायक है। हिन्दुस्तानी के इतिहास की दृष्टि से भी यह साहित्य-चर्चा उल्लेखनीय हैं।

साथ ही ग्रियर्सन इस नव गौड़ीय भाषा की समाजशास्त्रीय विशेषता की भी व्याख्या करते चलते हैं। वे लिखते हैं- "इनका एक और भी अधिकार है जिसका मैं उल्लेख करना चाहूँगा यह है इस नव गौड़ीय साहित्य का वास्तविक गुण , जो कुछ संस्कृत और प्राकृत के संबंध में कहा जाता है उसके अतिरिक्त उत्तरकालीन संस्कृत और प्राकृत कविताएँ कृत्रिम रचनाएँ हैं जो कक्ष में बैठकर विद्वानों के द्वारा, विद्वानों के लिए लिखी गईं, किन्तु नव गौड़ीय कवियों ने ना छोड़ने वाले आलोचकों, जनता के लिए लिखा। उनमे से अनेक ने प्रकृति का सूक्ष्म निरिक्षण किया और जो कुछ देखा, लिखा।

उन्होंने वृक्षों में वाणी पाई और जो कुछ उन्होंने भली भांति अथवा यों ही सुना, उसकी जैसी व्याख्या की, वैसे ही अधिक अथवा अल्प जनप्रियता उन्हें मिली, और उसी प्रकार उनकी रचनाएँ उनके बाद जीवित रहीं अथवा नहीं रहीं, अनेक ग्रन्थ जीवित हैं जीके लेखकों का नाम हम जानते तक नहीं, किन्तु वे जनता के हृदय में जीवित वाणी बन कर बचे हुए हैं क्योंकि उन्होंने जन की सत्य और सुन्दर की भावना को प्रभावित किया।"[27]

जन-भाषाओं की युगान्तकारी भूमिका से कौन सुधि पाठक नहीं परिचित होगा। साहित्य हो या इतिहास सभी जगह जन भाषाओं ने समाज के परिवर्तन में मुख्य भूमिकाएं निभाई हैं। प्राचीन भारत में धार्मिक कर्मकाण्ड के विरुद्ध में बुद्ध एवं जैन धर्मों ने जन भाषा पाली-प्राकृत का सहारा लिया। मध्यकाल में कबीर, तुलसी, जायसी, सूर और मीरा ने जन भाषाओं को भक्ति आंदोलन का आधार बनाया । और आधुनिक काल में खड़ी बोली ने जन-जागरण और स्वतंत्रता की मशाल जलाने का कार्य किया। ग्रियर्सन भी इस जन भाषा की भविष्योन्मुखी भूमिका की संभावना से परिचित हो चुके थे।

भारत में जिस काल में अंग्रेजों की सत्ता कायम हुई उस समय तक खड़ी बोली पूरे उत्तरी भारत में व्यवहार की शिष्ट भाषा हो चुकी थी। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने इतिहास में बताया है कि " रीतिकाल के समाप्त होते होते अंग्रेजों का राज्य देश में पूर्ण रूप से प्रतिस्थापित हो गया था। अतः अंग्रेजों के लिए यहाँ की भाषा सीखने का प्रयत्न स्वाभाविक था। पर शिष्ट समाज के बीच उन्हें दो ढंग की भाषाएँ चलती मिलीं । एक तो खड़ी बोली का सामान्य देशी रूप, दूसरा वह दरबारी रूप जो मुसलामानों ने उसे दिया था और उर्दू कहलाने लगा था।"[28]

फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना के साथ ही हम देखते हैं कि आधुनिक भारतीय भाषाओं पर कार्य प्रारंभ होता है। गिल क्राइस्ट ने देशी भाषाओं की पाठ्यपुस्तक

तैयार करने की व्यवस्था की। तब उन्होंने हिन्दी और उर्दू के लिए अलग-अलग प्रबंध किया। इसका मतलब यही है कि उन्होंने उर्दू से स्वतन्त्र हिन्दी खड़ी बोली का अस्तित्व भाषा के रूप में पाया। यहाँ एक प्रकार से हिन्दुस्तानी भाषा का रूप निर्धारण का कार्य प्रारंभ होता है। हिन्दी-उर्दू के स्पष्ट विभाजन का उत्स यहीं से प्रारंभ होता। ऐतिहासिक रूप से जो विवाद लिपि से प्रारंभ हुआ था। बाद में भाषा के स्तर पर सक्रिय हुआ, फिर सांस्कृतिक प्रतीकों के माध्यम से जिसने भारत में हिंदू-मुसलमान को सांप्रदायिक दंगों में झोंक दिया। यही दृष्टिकोण 1857 के विद्रोह के बाद अंग्रेजों की 'फूट डालो और राज करो' की नीति का अभिन्न अंग बन गया।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने इतिहास में फोर्ट विलियम की स्थापना और भाषा संबंधी परिवर्तन पर विचार करते हुए ये स्पष्ट किया है कि यह धारणा कि हिन्दी खड़ी बोली गद्य का प्रादुर्भाव अंग्रेजों की देन है, ठीक नहीं है। खड़ी बोली जब से साहित्य की भाषा बनी है तब से एक और जटिलता सामने आई है। और तमाम वाद-विवाद से कुछ भी सामने निकल कर नहीं आ रहा है। इसका आजतक कोई समाधान भी नहीं निकला है।

असल बात यह है कि उर्दू के रूप में खड़ी बोली पहले विकसित हुई, जिसे हिन्दी खड़ी बोली हम कहते हैं वो बाद में विकसित होती है। उर्दू का जो साहित्य हमारे सामने है वह पहले से प्रारंभ हो गया था। और काव्य रचना तो और भी पहले से प्रारंभ हो गयी थी। गद्य के साहित्य का इतिहास भी देखें तो हमें मालूम होगा कि हिन्दी खड़ी बोली में हिन्दी का गद्य विकसित होने से पहले उर्दू में खड़ी बोली के रूप में विकसित है। नाम उसका हिन्दवी भी कहा जाता है। मीर अपनी भाषा को हिन्दवी ही कहते थे इसीलिए शुरू में यह हिन्दी नाम था। बाद के दिनों में राजनीतिक कारणों से बहुत सारे विवाद हुए हिन्दी-उर्दू को लेकर। 19 वीं शताब्दी के मध्य से लेकर 20वीं शताब्दी के बीच के मध्य के दशक तक और भी सत्ता में अपनी जगह बनाने के लिए संघर्ष हुआ और उसके बाद से जो साम्प्रदायिक राज्य आगे बढ़ा और उसके बाद जो देश का विभाजन हुआ, तो वह हिन्दी और उर्दू का जो आत्मीय संबंध था वह धीरे-

धीरे खत्म हो गया इसलिए आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास में खड़ी बोली हिन्दी के दोनों रूपों को और उनके रिश्ते को ध्यान में रखना जरूरी है। जो काम हिन्दी में हुआ ही नहीं।

हिन्दी के विद्वान लोग, बहुत बड़े बड़े इतिहासकार, प्रगतिशील जनवादी सब कहते हैं कि उर्दू हिन्दी की एक शैली है । किन्तु अब मान भी लें कि हिन्दी के विद्वान हैं तो यह कह रहें हैं कि उर्दू-हिन्दी की एक शैली है। उर्दू विद्वान ठीक इस से उलट सकते हैं कि हिन्दी उर्दू की शैली। इन विवादों से कोई नयी बात सामने नहीं आती। स्थिति जहाँ की तहाँ बनी रहती है। उस जटिल समस्या पर विचार करना जरूरी है। यह जानते और मानते हुए कि हम खड़ी बोली हिन्दी का रूप पिछले लगभग सौ बरस में विकसित हुआ है। अर्थात भारतेंदु से आज तक वह एक स्वतन्त्र भाषा का रूप है। अब उस तरह उर्दू से जुदा हुआ रूप हिन्दी का नहीं है जो भारतेंदु के युग तक था या उस से पहले था। उसी तरह से कई व्याकरण की दृष्टि से हिन्दी के समान भाषा और साहित्य के स्तर पर एकदम फिट हैं। इसलिए इस भिन्नता और अलगाव को तथ्य के रूप में स्वीकार करने से बात बनेगी।

इस सन्दर्भ में देखें तो ग्रियर्सन का इतिहास-ग्रन्थ इस पूरे विमर्श को खड़ा करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। उनके इस इतिहास-ग्रन्थ के अलावा उनका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ –'भाषा–सर्वेक्षण' जो बाद में 11 खण्डों में प्रकाशित हुआ उसका कार्य भी वे साथ-साथ कर रहा था। अतः उनके भाषा सम्बन्धी ज्ञान का महत्व सर्वाधिक है। उन्होंने अपनी भाषा नीति को स्पष्ट करते हुए अपनी भूमिका में लिखा है- " मैं आधुनिक भाषा साहित्य का ही विवरण प्रस्तुत करने जा रहा हूँ। अतः मैं संस्कृत में ग्रन्थ रचना करने वाले लेखकों का विवरण नहीं दे रहा हूँ। प्राकृत में लिखी रचना को भी विचार से बाहर कर रहा हूँ। भले ही प्राकृत कभी बोल-चाल की भाषा रही हो । पर आधुनिक भाषा के अंतर्गत नहीं आती। मैं न तो अरबी फ़ारसी के भारतीय लेखकों का उल्लेख कर रहा हूँ। न ही विदेश से लाए गये साहित्यिक उर्दू का। मैंने इस अंतिम को उर्दू वालों को अपने इस विचार से इसमें न तो संस्कृत और प्राकृत को संकलित

किया जा सकता है और न ही अरबी-फारसी मिश्रित उर्दू को। जानबूझ कर बहिस्कृत कर दिया है क्योंकि इन पर पहले ही गार्सा द तासी ने पूर्ण रूप से विचार कर लिया है।"[29]

उन्होंने हिन्दुस्तान शब्द का अर्थ हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेश किया है। इसमें उन्होंने मारवाड़ी, ब्रजी, बिहारी के लिखित साहित्य का उल्लेख किया है । इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी भाषा के स्वरूप के विकास में जिस दृष्टिकोण का परिचय ग्रियर्सन ने दिया है वह परवर्ती इतिहासकारों के लिए पथप्रदर्शक है। उन्होंने हिन्दी साहित्य का भाषा की दृष्टि से क्षेत्र निर्धारण करते हुए स्पष्ट किया है कि इसमें न तो संस्कृत-प्राकृत को शामिल किया जा सकता है न अरबी-फ़ारसी मिश्रित उर्दू को।

डॉ0 ग्रियर्सन का यह भाषा संबंधी ज्ञान एक प्रकार से भावी इतिहासलेखन की दिशा का निर्धारण करता है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास में कौन कौन से भाषा कवियों को सम्मिलित करना चाहिए और किसको नहीं सम्मिलित करना चाहिए। आगे होने वाले इतिहासकारों ने अपना इतिहास लिखते हुए यही भाषिक-दृष्टिकोण अपनाया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का इतिहास भी इससे मुक्त नहीं हो सका है।

वस्तुतः सार्थक इतिहासलेखन वर्तमान और भविष्य के लिए होता है और भोले इतिहास लेखक तो मात्र अतीत की आराधना ही करते रह जाते हैं। ऐसा ही एक सार्थक प्रयास ग्रियर्सन ने किया है जो परवर्ती इतिहासकारों का पथ-प्रदर्शक बन सका। हांलाकि एक लंबी अवधी बीत जाने के बाद हिन्दी साहित्य के इतिहास में भाषा सम्बन्धी विवाद प्रारंभ हो गया जब शुक्ल जी के इतिहास पर प्रश्न-चिन्ह लगाए जाने लगे तो यह जानना आवश्यक है कि आखिर इस भाषा सम्बन्धी दृष्टि का उत्स कहाँ है? तब हम पहुंचते है भाषा वैज्ञानिक डॉ. ग्रियर्सन के इस ग्रन्थ पर।

ग्रियर्सन का भाषा संबंधी कार्य न केवल हिन्दी साहित्य के इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण है अपितु उसका भाषा वैज्ञानिकों के लिए तो सर्वाधिक महत्व है। जब वे

पटना के ज्वाइंट मजिस्ट्रेट थे तो उन्होंने सात भागों में बिहारी की बोलियों का व्याकरण प्रस्तुत किया। जिसे बंगाल सरकार ने प्रकाशित करवाया और जिससे उन्हें बहुत बहुत प्रसिद्धि मिली।

इसी के बाद वे 1885 में वियना की प्राच्य-विद्या विशारदों की अंतर्राष्ट्रीय सभा में अपना सुप्रसिद्ध लेख पढ़ते हैं। ग्रियर्सन अवकाश लेकर के जर्मनी गए थे। तीन वर्ष बाद लौटने पर उन्होंने बिहारी भाषा का कोश रूडाल्फ हार्नली के साथ बनाना प्रारंभ किया। जो पूर्ण नहीं हो सका। इसके बाद इनका तबादला 1892 में हाबड़ा हो गया।

इस प्रकार भारत सरकार ने भी इनके इस महत्वपूर्ण कार्य को बहुत सम्मान दिया। 1894 में भारत सरकार द्वारा इन्हें सी. आई. ई. की उपाधि दी। इसी समय हाले विश्वविद्यालय से पीएच. डी. की उपाधि भी मिली। हाबड़ा में यह 1896 तक रहे। यहाँ पंडित बालमुकुंद कश्मीरी की सहायता लेकर उन्होंने सरकार के लिए भारत की भाषाओं पर एक निबंध लिखा। 1898 में इनकी नियुक्ति भाषा सर्वेक्षण के लिए शिमला में हो गयी।

किशोरीलाल गुप्त ने ग्रियर्सन के सर्वाधिक महत्व के जो तीन कार्य गिनाए हैं उनमें सबसे महत्वपूर्ण हैं **–'भारतीय भाषाओं का सर्वेक्षण'**। वे लिखते हैं-" ग्रियर्सन ने भारतीय भाषाओं के सर्वेक्षण का कार्य 19 वीं शती के अंतिम दशक के मध्य में प्रारंभ किया था। यह ग्रन्थ जितना विशालकाय है, उतना ही महत्वपूर्ण भी। यह 11 बड़ी बड़ी जिल्दों में है। कई जिल्दें तो कई कई भागों में विभक्त हैं। यह विशाल ग्रन्थ भारतीय सरकार की केन्द्रीय प्रशासन विभाग की कलकत्ता शाखा के द्वारा प्रकाशित हुआ था। इसमें भारतीय भाषाओं, उप-भाषाओं और बोलियों के उदाहरण संकलित हैं और इन्हीं के आधार पर उनके संक्षिप्त व्याकरण दिया गया है। इसकी जिल्द 6 में पूर्वी हिन्दी और जिल्द 9 भाग 1 में पश्चिमी हिन्दी का विवेचन है। हिन्दी की विभिन्न बोलियों का ठीक ठीक रूप एवं सीमा निर्धारण सबसे पहले इन्हीं जिल्दों में मिलता है। प्रत्येक जिल्द में भाषा सीमा निर्धारक उपयोगी मानचित्र भी दिए गए हैं।"[30]

किशोरीलाल गुप्त ने ग्रियर्सन के **भाषा-सर्वेक्षण** के 11 जिल्दों की सूची दी है-

जिल्द1- भाग1- भूमिका- भारतीय आर्य भाषाओं के इतिहास का सबसे प्रामाणिक और क्रमबद्ध वर्णन, प्रकाशन-1929 ई.

भाग2- तुलनात्मक शब्दावली- प्रकाशन -1928 ई.

जिल्द2- मांखमेर, स्यामी और चीनी भाषा परिवार, प्रकाशन काल 1904 ई.

जिल्द3- भाग1- सामान्य भूमिका और तिब्बती, हिमालयी और उत्तरी असमी भाषा परिवार - प्रकाशन काल -1909 ई.

भाग2- बोडो, नागा, कूचीन भषा परिवार- प्रकाशन काल -1903 ई.

भाग3- कूचीन और बर्मा भाषा परिवार- प्रकाशन काल - 1904 ई.

जिल्द4- मुंडा और द्रविण भाषाएँ -- प्रकाशन काल - 1906 ई.

जिल्द5- भाग1-- बंगाली और असमी भाषाएँ, प्रकाशन काल -1903 ई.

भाग2 - बिहारी और उड़िया भाषाएँ, प्रकाशन काल -1903ई.

जिल्द6- पूर्वी हिन्दी, प्रकाशन काल -1904 ई.

जिल्द 7- मराठी भाषा, प्रकाशन काल -1905 ई.

जिल्द8- भाग 1- सिंधी और लहंदा, प्रकाशन काल -1919 ई.

भाग2- दरद और पैशाची, प्रकाशन काल -1919 ई.

जिल्द9- भाग1- पश्चिमी हिन्दी और पंजाबी, प्रकाशन काल -1916 ई.

भाग2- राजस्थानी और गुजराती, प्रकाशन काल -1908 ई.

भग3- भीली प्रकाशन काल -1907 ई.

भाग4- पहाड़ी और गुजरी, प्रकाशन काल - 1916 ई.

जिल्द 10 ईरानी परिवार, प्रकाशन काल -1921 ई.

जिल्द11 जिप्सी परिवार, प्रकाशन काल -1922 ई.

1-2 उक्त भाषा सर्वेक्षण के दो पूरक—जिनका प्रकाशन -1929 में हुआ।

भाषा संबंधी ग्रियर्सन की अन्य रचनाएं

1- भारतीय भाषाओं का सर्वेक्षण (मध्यप्रदेश) भाषाओं की प्रथम सामान्य सूची प्रकाशन काल - 1897 ई.

2- भारतीय भाषाओं का सर्वेक्षण (असम) भाषाओं की प्रथम सूची, प्रकाशन काल - 1898 ई.

3- भारतीय भाषाएं-1901 की जनगणना का एक अंश, प्रकाशन काल -1903 ई.

4- भारतीय भाषाओं का सर्वेक्षण और 1911 की जनगणना, प्रकाशन काल - 1911 ई.

5- रंगपुर की विचित्र भाषा का व्याकरण- प्रकाशन काल -1877 ई. के आसपास विरचित

6- मैथिली भाषा का सांगोपांग व्याकरण, प्रकाशन काल -1877 ई. के आसपास विरचित

7- बिहारी की बोली के साथ व्याकरण, 1883-1887 ई. के बीच प्रकाशित

8- कश्मीरी भाषा का कोश- भाग-1 से 4 तक, प्रकाशन काल - 1916 से 1932 ई. तक

9- बिहारी भाषा का तुलनात्मक शब्द-कोश, प्रकाशन काल -1887ई.

इन ग्रंथों के अतिरिक्त इंडियन एंटीक्वेरी और रायल एशियाटिक सोसायटी के जनरल में भी इनके भाषा संबंधी लेख यदा-कदा प्रकाशित होते रहते थे, इनके भाषा संबंधी कुछ निबन्धों की सूची निम्न है-

1- भारतीय भाषाएँ, भाषायी सर्वेक्षण, व्याख्यान

2- भारतीय आर्य भाषाओं में अनुनासिकता

3- आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में प्रत्यय

4- आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का ध्वनि-विज्ञान

5- प्रमुख राजस्थानी बोलियों पर टिप्पणी

6- कैथी लिपि प्रवेशिका

अपने भाषा विज्ञान का ग्रियर्सन ने ग्रन्थ लिखते समय यथोचित ध्यान रखा है । वे अपनी वर्तनी संबंधी पद्धति पर विचार करते हुए बताते हैं कि उन्होंने वर्तनी का मौखिक रूप रखा है। क्योंकि ग्रियर्सन आधुनिक भारतीय बोलियों का साहित्य प्रस्तुत कर रहे थे। वे भारत के जीवंत साहित्य को कालक्रमानुसार प्रस्तुत कर रहे थे। अतः वे लिखते हैं- " भाषा शब्दों की वर्तनी के संबंध में उसी पद्धति पर दृढ़ रहा हूँ जिसका हमने डॉ. हर्नली और मैंने अपने कम्परेटिव डिक्शनरी ऑफ द बिहार लैंग्वेज' में अनुसरण किया है। विशेष विवरण के लिए पाठक उसे देखें। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक शब्द को कड़ाई के साथ उसी रूप में लिखना, जिस रूप से वह बोला जाता है। मैंने इस नियंम का परित्याग कतिपय जीवित भारतीय सज्जनों के नामों के ही संबंध में किया है। इस सिद्धांत पर प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छा के अनुसार अपना नाम लिखने की स्वतंत्रता प्राप्त है, मैंने उनके नामों की वर्तनी वैसी ही रखी है। जैसी वे अंग्रेजी में अपना हस्ताक्षर करते समय व्यवहृत करते हैं। प्रमुख कठिनाई जिसका अनुभव हमें हुआ है, वह है पूर्ण नाम बनाने वाले शब्दों के समूह के अलग अलग विभाजन की एकरूपता लाने का प्रयत्न कोई साधारण व्यापार नहीं सिद्ध हुआ है। ऐसा करने में विचित्र और वास्तविक प्रयोग से भिन्न परिणामों पर पहुंचना पड़ा है । इस सन्दर्भ में वर्तमान पद्धति यद्यपि सरल है, फिर भी इस का कोई सिद्धांत नहीं है और चाहे जिस सिद्धांत का ग्रहण कर लिया जाएँ, इसमें कुछ न कुछ गडबडी अवश्य होगी। जहाँ जहाँ इस पुस्तक में एक ही नाम आया है वहाँ वहाँ सर्वत्र मैंने उसे एक ही रूप में विभक्त करने का प्रयास किया है। परन्तु मुझे स-खेद कहना पड़ता है कि ग्रन्थ में आए चार हजार से कुछ अधिक ही नामों में से कुछ में लेखनी दोष आ ही गया है।"[31]

इस प्रकार हम देखते हैं कि ग्रियर्सन को साहित्य और इतिहास लेखन के सभी तत्वों का ज्ञान था। यूरोपीय पाठकों को ध्यान में रखते हुए उन्होंने भाषा कवियों के नाम की वर्तनी की पद्धति का उल्लेख कर दिया है। जिससे विदेशी विद्वानों को उच्चारण स्वीकार हो इसलिए पद-विभाजन की यह पद्धति अपनाई गयी। वह स्वाभाविक ही है किसी विदेशी भाषा के साहित्य को पढ़ते समय यदि वर्तनी का थोड़ा भी दोष होता है तो कई लेखकों के नाम आदि की भ्रामक जानकारी पाठक तक सम्प्रेषित हो जाती है। डॉ. किशोरीलाल गुप्त ने ग्रन्थ का सम्पादन करते समय ऐसे बहुत से दोष गिनाए हैं जिससे लेखक के नाम, उसकी रचना, कई लेखकों का अलग-अलग परिचय आदि, ग्रन्थ में दिखाई देते हैं। ग्रियर्सन को भी ऐसी आशंका थी, जो उन्होंने भूमिका में ही बता दिया है।

ग्रियर्सन ने अपने ग्रन्थ में एक परित्याग का भी उल्लेख किया है जो है हिन्दी की लोक-भाषाओं में रचे बसे ग्राम- गीत। ध्यातव्य है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास पर भी यह आक्षेप लगते रहे हैं कि इसमें लोकसाहित्य का निषेध है। लोक भाषाओं के जो लेखक हैं वे लोग इस पर आपत्ति करते रहते हैं। ये बात कुछ वैसी ही लगती है कि जैसे आदि और मध्यकाल में खड़ी बोली के अलावा ब्रज-अवधी आदि की रचनाएँ सम्मिलित हैं पर आधुनिक काल में नहीं। वैसे ही आदि और मध्यकाल का लोकसाहित्य तो इतिहास में सम्मिलित है पर आधुनिक काल में उसको इतिहास में जगह क्यों नहीं मिलती। विद्यापति, कबीर, मीरा के साहित्य को यदि साहित्य के इतिहास में स्थान मिलता है वैसे ही आधुनिक लोकसाहित्य को भी मिलना चाहिए।

जाहिर है साहित्य के इतिहास की इस एक और जटिल समस्या से ग्रियर्सन अवगत थे। अतः वे सफाई देते हुए लिखते हैं-"मैं यहाँ एक परित्याग का भी उल्लेख स-खेद कर देना चाहता हूँ। अगणित एवं अज्ञात कवियों द्वारा विरचित स्वतन्त्र महाकाव्यों एवं ग्राम-गीतों जैसे कजरी, जन्तसार और इस प्रकार के अन्य भी को, जो संपूर्ण उत्तरी भारत में प्रचलित हैं मैंने इनमें सम्मिलित करने से अपने को रोका है। ये लोगों से जबानी सुन कर वहीं संकलित किए जा सकते हैं और जहाँ तक मैं जानता हूँ यह संग्रह

कार्य ढंग से और केवल बिहार में किया गया है। अतः मैंने कुछ सोच–विचार के पश्चात इस ग्रन्थ में इनका एकदम उल्लेख ना करने का पूर्ण निश्चय कर लिया क्योंकि इनकी चर्चा का कोई भी प्रयास अपूर्ण एवं भ्रामक ही होता।"[32] आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भी अपने इतिहास-ग्रन्थ में खड़ी बोली की लोकभाषा के रूप में प्रचलन और उसके लोक-साहित्य के मौखिक परंपरा पर विचार के संबंध में लिखा है –" कि कोई भाषा हो उसका कुछ न कुछ साहित्य अवश्य होता है। चाहे वह लिखित न हो, श्रुति परंपरा द्वारा ही चला आता हो।"[33] किन्तु साहित्य से अभिप्राय लिखित साहित्य का ही है, कथित या मौखिक का नहीं। इस प्रकार पहले ग्रियर्सन फिर शुक्ल जी दोनों ने हिन्दी साहित्य के इतिहास की जो दिशा निर्धारित की थी। वह काफी समय तक हिन्दी साहित्य के विद्यार्थियों में मान्य रही।

निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि डॉ. सर जार्ज ग्रियर्सन द्वारा रचित '**द माडर्न वेर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ नॉर्दन हिन्दुस्तान**' हिन्दी के प्रारंभिक इतिहास ग्रंथों में होने के कारण, किसी भी साहित्य के आरंभिक ग्रन्थ होने से जो समस्याएँ हो सकती हैं, वे इस ग्रन्थ में दिखाई देती हैं। साथ ही उनकी **प्राच्यवादी इतिहास** लेखन की दृष्टि**, विधेयवादी इतिहासलेखन** की पद्धति, **भाषा नीति**, अंग्रेजी भाषा और विदेशी पाठकों के लिए लिखे जाने के कारण यह ग्रन्थ हिन्दी में पर्याप्त स्वीकृत नहीं हो सका। फिर भी इसका दाय तो आज भी स्वीकार्य है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

1. वर्मा, निर्मल,कला का जोखिम, राजकमल प्रकाशन, तीसरा संस्करण - 2001, पृष्ठ संख्या-34

2. ***ग्रियर्सन,*** डॉ.सर जार्ज अब्राहम, ***माडर्न वेर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ नॉर्दन हिन्दोस्तान,*** अनुवाद- ***हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास,*** किशोरीलाल गुप्त, वाराणसी, हिंदी प्रचारक पुस्तकमाला, 1957, पृष्ठ संख्या-36

3. कृष्ण, डॉ. प्रणय, 'प्रमुख उत्तर-औपनिवेशिक चिन्तक और उनके विमर्श'— उत्तर-औपनिवेशिकता के स्रोत और हिंदी साहित्य, लोकभारती प्रकाशन, प्रथम संस्करण-2008, पृष्ठ संख्या- 103-104

4. ***ग्रियर्सन,*** डॉ.सर जार्ज अब्राहम, ***माडर्न वेर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ नॉर्दन हिन्दोस्तान,*** अनुवाद- ***हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास,*** किशोरीलाल गुप्त, वाराणसी, हिंदी प्रचारक पुस्तकमाला, 1957, प्रस्तावना, पृष्ठ संख्या-41

5. ***वही, पृष्ठ संख्या-41***

6. लुकाच, ग्यार्ग, इतिहास और वर्ग चेतना, अनुवाद और सम्पादन- नरेश'नदीम', प्रकाशन संस्थान,2005, पृष्ठ संख्या-104

7. ***ग्रियर्सन,*** डॉ.सर जार्ज अब्राहम, ***माडर्न वेर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ नॉर्दन हिन्दोस्तान,*** अनुवाद- ***हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास,*** किशोरीलाल गुप्त, वाराणसी, हिंदी प्रचारक पुस्तकमाला, 1957, प्रस्तावना, पृष्ठ संख्या-42

8. वही, पृष्ठ संख्या-42

9. ***ग्रियर्सन,*** डॉ.सर जार्ज अब्राहम, ***माडर्न वेर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ नॉर्दन हिन्दोस्तान,*** अनुवाद- ***हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास,*** किशोरीलाल गुप्त, वाराणसी, हिंदी प्रचारक पुस्तकमाला, 1957, अंतर्दर्शन, ग्रियर्सन की साहित्य सेवा, पृष्ठ संख्या-11

10. शर्मा, नलिनविलोचन, साहित्य का इतिहासदर्शन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, प्रथम संस्करण-विकमाब्द,2016,पृष्ठ संख्या- 80

11. ***ग्रियर्सन,*** डॉ.सर जार्ज अब्राहम, ***माडर्न वेर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ नॉर्दन हिन्दोस्तान,*** अनुवाद- ***हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास,*** किशोरीलाल गुप्त, वाराणसी, हिंदी प्रचारक पुस्तकमाला, 1957, भूमिका- पृष्ठ संख्या-48

12. वही, पृष्ठ संख्या- 52

13. वही, पृष्ठ संख्या-52-53

14. वही, पृष्ठ संख्या-53

15. वही, पृष्ठ संख्या-53-54

16. वही, पृष्ठ संख्या-55

17. वही, पृष्ठ संख्या-56

18. वही, पृष्ठ संख्या-56

19. गुप्त, किशोरीलाल, सरोज- सर्वेक्षण, हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रथम संस्करण, 1967, पृष्ठ संख्या-45

20. नगेन्द्र, डॉ., हिन्दी साहित्य का इतिहास, मयूर पेपर बैक्स, 2005 पृष्ठ संख्या-30

21. ***ग्रियर्सन,*** डॉ.सर जार्ज अब्राहम, ***माडर्न वेर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ नॉर्दन हिन्दोस्तान,*** अनुवाद- ***हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास,*** किशोरीलाल गुप्त, वाराणसी, हिंदी प्रचारक पुस्तकमाला, 1957, भूमिका- पृष्ठ संख्या-45

22. ***ग्रियर्सन,*** डॉ.सर जार्ज अब्राहम, ***माडर्न वेर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ नॉर्दन हिन्दोस्तान,*** अनुवाद- ***हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास,*** किशोरीलाल गुप्त, वाराणसी, हिंदी प्रचारक पुस्तकमाला, 1957, पृष्ठ संख्या-742

23. गुप्त, डॉ. किशोरीलाल, हिन्दी साहित्य के इतिहासों का इतिहास, विभु प्रकाशन, 1978, पृष्ठ संख्या-93

24. नगेन्द्र, डॉ0, हिन्दी साहित्य का इतिहास, मयूर पेपर बैक्स, 2005 पृष्ठ संख्या-30

25. ***ग्रियर्सन,*** डॉ.सर जार्ज अब्राहम, ***माडर्न वेर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ नॉर्दन हिन्दोस्तान,*** अनुवाद- ***हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास,*** किशोरीलाल गुप्त, वाराणसी, हिंदी प्रचारक पुस्तकमाला, 1957, अंतर्दर्शन, ग्रियर्सन का जीवन-परिचयपृष्ठ संख्या-8

26. वही, प्रस्तावना- पृष्ठ संख्या-43-44

27. वही, प्रस्तावना- पृष्ठ संख्या-44

28. शुक्ल, आचार्य रामचंद्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, प्रकाशन संस्थान, सन् 2007 , पृष्ठ संख्या-300

29. ***ग्रियर्सन,*** डॉ. सर जार्ज अब्राहम, ***माडर्न वेर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ नॉर्दन हिन्दोस्तान,*** अनुवाद- ***हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास,*** किशोरीलाल गुप्त, वाराणसी, हिंदी प्रचारक पुस्तकमाला, 1957, प्रस्तावना, पृष्ठ संख्या-41

30. वही, अंतर्दर्शन, ग्रियर्सन की साहित्य सेवा, पृष्ठ संख्या-9

31. वही, प्रस्तावना- पृष्ठ संख्या-42-43

32. वही, पृष्ठ संख्या-42

33. शुक्ल, आचार्य रामचंद्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, प्रकाशन संस्थान, सन् 2007 , पृष्ठ संख्या-300

➢ **<u>नोट</u>** **-***प्रस्तुत अध्याय में ग्रियर्सन के जीवन से जुड़े सभी प्रसंग डॉ. किशोरीलाल गुप्र द्वारा ग्रियर्सन के संपादित ग्रन्थ से लिए गए है। जो उन्होंने डिक्शनरी ऑफ इंडियन बायोग्राफी (1906), और श्यामसुन्दरदास लिखित 'हिन्दी कोविद रत्नमाला' प्रथम भाग(1909) के आधार पर प्रस्तुत किया है। इसके अलावा विकिपीडिया पर भी इसकी जाँच की गयी है।*

➢ *उनके साहिय का परिचय भी इसी के आधार पर दिया गया है। जिसकी भी विकिपीडिया पर जानकारी उपलब्ध है। उनकी पुस्तकें भी ऑनलाइन बिक्री के लिए उपलब्ध हैं।*

चौथा अध्याय

मिश्रबंधु विनोद और इतिहास लेखन की समस्या

चौथा अध्याय

मिश्रबंधु विनोद और इतिहास लेखन की समस्या

"राष्ट्रवाद, साम्राज्यवाद के विरोध का ऐसा विचार है कि जिसमें धार्मिक, सांस्कृतिक तथा अस्मितावादी पहचान का उभार भी जुड़ा जाता है।"[1]

"यूरोपीय आलोचना के प्रत्युत्तर स्वरूप भारतीय-चिंतन, परम्पराओं, सांस्कृतिक और इतिहास की पुनर्व्याख्या के अभिजन ने सर्जनात्मक योग दिया। उनका यह योग अंग्रेजों से वस्तुएँ, धारणाएं और संस्थाएं उधार लेने तक सीमित न था, उधार लेने में बड़ा चयन था और उधार ली गयी सामग्री का विस्तार और पुनर्व्याख्या भी की गयी। अभिजन समूह की पृष्ठभूमि और परम्पराओं की जानकारी से इस चयनशीलता पर कुछ प्रकाश पड़ता है।"[2]

1857 की क्रान्ति के बाद भारत में पुनर्जागरण की जो लहर चली, उसकी सर्वोत्तम अभिव्यक्ति साहित्य में दिखाई देती है। भारतेंदु युग में, हिन्दी नवजागरण ने राष्ट्र के निर्माण की जो पृष्ठभूमि का निर्माण करना प्रारंभ किया था, उसका चरमोत्कर्ष 20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों में दिखाई देता है। जिसे प्रचलित रूप में द्विवेदी युग के नाम से जाना जाता है। भारतेंदु युग में जहाँ एक तरफ़ ग्रियर्सन ने प्राच्यवादी दृष्टि के तहत साहित्येतिहास लेखन को शिखर पर पहुँचाया वहीं शिवसिंह ने 'अन्य' को परिभाषित करने की राष्ट्रवादी दृष्टि का प्रथम प्रयास किया। साहित्येतिहास लेखन के माध्यम से आत्म रेखांकन के शिवसिंह के प्रयास को मिश्रबंधुओं ने अपने चरम पर पहुँचाया।

मिश्रबंधुओं द्वारा विरचित *'मिश्रबंधु-विनोद'* है। इस ग्रन्थ में लगभग 5000(4591) कवियों के उदाहरण के साथ ही इतिहासलेखन के सभी पहलुओं के निर्वाह का प्रयास किया गया है। मिश्रबंधु विनोद में जो सबसे बड़ी बात दिखाई देती

है वह है स्वयं को उस राज्य-सत्ता से श्रेष्ठ रेखांकित करने का प्रयास जिसने उसे एक पूर्वनिर्धारित दृष्टि से परिभाषित किया है अर्थात स्वयं की अस्मिता को परिभाषित करने की अथक चाह। कहना न होगा कि आत्मरेखांकन का यह प्रयास औपनिवेशिक सत्ता के विरुद्ध होते हुए भी उसी से अनुप्राणित भी था। जाहिर है इस प्रयास में वे अतिश्लघा से मुक्त नहीं हो पाए अपितु अपने उद्देश्य के विरुद्ध कहीं-कहीं वे ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति राजभक्ति के संस्कार से भी मुक्त न हो सके। रचनाकारों में इस मानसिक उलझाव को भी देखा गया है।

मिश्रबंधु के रचनाकाल को देखें तो यह वह समय था जब हिंदी साहित्य में सांस्कृतिक-पुनरुत्थानवाद की लहर सर्वत्र दिखाई देती है। 'हम क्या थे? क्या हो गए और अब क्या होंगे?' की चेतना से मिश्रबंधु विनोद भी तटस्थ नहीं था। हिंदी जाति के लगभग साढ़े चार हजार कवियों की सूची को इतिहासग्रन्थ में शामिल करना इसी दृष्टि का परिचायक है। उन्होंने ब्रिटिश सत्ता की बन्दूक के आगे हिंदी जाति की कलम की ताकत को रखा। उनका मानना था और किसी चीज में भारत श्रेष्ठ हो न हो पर भारतीय साहित्य अवश्य ही सम्पूर्ण जगत में सर्वश्रेष्ठ कोटि का है। इस प्रक्रिया में मिश्रबंधुओं के इतिहास में आध्यात्मिकता का यथार्थ से ज्यादा समावेश हो गया है। अनुसंधान के क्रम में धार्मिक अस्मिता को रेखांकित करने के प्रयास को स्पष्ट करना शोध का अनिवार्य अंग है। अपनी इतिहासदृष्टि के कारण मिश्रबंधु एक मानक इतिहासग्रंथ का निर्माण न कर सके एवं इतिहासलेखन के लिए जिस मूल्यांकन क्षमता और सामाजिक-सांस्कृतिक आधारों की खोज की आवश्यकता होती है उसकी भी कमी हमें इस ग्रन्थ में दिखाई देती है।

4.1. मिश्रबंधुओं की भाषा नीति

साहित्य का इतिहास किसी निश्चित भाषा का इतिहास होता है। मिश्रबंधुओं ने इस ग्रन्थ में उन्होंने इतिहासलेखन की परंपरा का पालन किया है और साथ ही भाषा की उत्पत्ति , उसके विकास पर भी विस्तृत चर्चा की है। उपनिवेशी शक्तियों ने भारत की भाषा का निर्धारण करने का कार्य मिश्र बंधुओं से लगभग सौ वर्ष पूर्व ही करना

प्रारंभ कर रखा था। मिश्र बंधुओं ने इस दिशा में एक नयी कड़ी जोड़ी। अन्य बनाए जाने की पीड़ा का बोध और अपने आत्म के रेखांकन का प्रयास उनकी भाषा नीति में मुखर है। वे मातृभाषा और भाषा को परिभाषित करने का प्रयास करते हैं। उनका पहला अध्याय ही 'हिन्दी की उत्पत्ति और काव्य-लक्षण' पर केंद्रित है। वे लिखते हैं- "हिन्दी उस भाषा का नाम है जो .विशेषताएं उत्तर-प्रदेश, बिहार, बुंदेलखंड, बघेलखंड, छत्तीसगढ़ आदी में बोली जाति है, और समानताएँ बंगाल को छोड़ समस्त उत्तरी और मध्य भारत की मातृभाषा है। मोटे प्रकार से इसे भाषा भी कहते हैं।"[3]

भारतेन्दुयुगीन नवजागरण कालीन चेतना जहाँ सामाजिक राजनीतिक, सांस्कृतिक परिधि से ऊपर उठकर भाषा और साहित्य के बनावट और बुनावट के स्तर पर्याप्त सक्रिय थी। वहीं द्विवेदीयुगीन नवजागरण की चेतना इससे एक कदम और आगे बढ़कर भाषा और साहित्य के संस्कृतिकरण के स्तर पर सक्रिय हो चुकी थी। वस्तुतः इस युग के साहित्यकारों ने भाषा के विकास को जातीयता और देश के विकास के साथ सम्बद्ध कर दिया और इसी प्रक्रम में जातीय भाषा की निर्मिति हुई जिसका परिणाम 'राजभाषा हिन्दी' के रूप में सविंधान में स्पष्ट है।

विनोद के प्रयोजन सर्वप्रथम 'सरस्वती पत्रिका' में 1901 में प्रकाशित हुआ था। कहना न होगा, कि हिन्दी भाषा और साहित्य के आदर्शीकरण में इस पत्रिका की क्या भूमिका थी। हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस प्रक्रिया को जिस शिखर पर पहुँचाया, यह भाषा के क्षेत्र में, एक साहित्यिक ही नहीं एक ऐतिहासिक परिवर्तन का द्योतक है। विनोद में भी इतिहास-ग्रन्थ, भाषा के बहाने सामाजिक संवाद स्थापित करने की कोशिश की गई है। हिन्दी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उन्होंने भाषा-विज्ञान में चलने वाले दो मतों की चर्चा की है। पहला मत तो यह है कि हिन्दी, संस्कृत की पुत्री है, दूसरा यह कि अपभ्रंश-प्राकृत ही बदलते बदलते हिन्दी हो गयी। ग्रियर्सन के भारतीय लिंग्विस्टिक को उद्धृत करते हुए उन्होंने अपनी बात को प्रमाणित किया है। जैसा कि

ग्रियर्सन ने भाषा के लोक-प्रचलित रूप को महत्वपूर्ण माना है, वैसे ही मिश्रबंधु भी भाषा के सरल रूप को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं।

आज भी बड़े बड़े विश्वविद्यालयों के बड़े बड़े विद्वान जब भाषा के विकास का परम्परागत मत कि 'हिन्दी संस्कृत की पुत्री है' कहते हुए भाषण दे रहे होते हैं । तो हमें सोचना चाहिए कि कैसे इतने जटिल प्रश्न को इतनी सरलता से विद्यार्थियों के विचार में तब्दील किया जाता है। विद्यालयों में शुरूआती दौर से रटाया जाता है यह । दरसल, भाषा का प्रश्न एक वृहद राजनीतिक प्रश्न है। जो आधुनिकीकरण की परियोजना में राष्ट्र-राज्य के निर्माण में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। और हिंदू प्रबुद्ध वर्गों की राजनैतिक स्वतंत्रता के बाद भाषा को और अधिक भ्रामक रूप में प्रस्तुत करना, ही सत्ताधारियों का मुख्य उद्देश्य नजर आता है। चूँकि भाषा संप्रेषण का माध्यम होती है इसलिए इसका अपने हित में प्रयोग, अन्य के अहित में प्रयोग प्राचीनकाल से ही सत्ताधारियों द्वारा होता आया है। यही कारण है कि वर्तमान समय में 'सम्प्रेषण का संकट' सभी ओर नजर आता है।

हिन्दी भाषा के मानकीकरण की शुरुआती अवस्था में ही इस ग्रन्थ में इस बात का पर्याप्त विवेचन है। जो अपने समय के प्रश्नों को समेटे हुए है। बालमुकुंद गुप्त ने भी अपने 'भारतमित्र', 6 अप्रैल, 1909 के निबंध में लिखा है-"केवल गाल बजाने से भाषा की उन्नति नहीं होती, भाषा की उन्नति के लिए लेख चाहिए, लेख बनाने के लिए पाठक चाहिए, और पाठक होने के लिए मातृभाषा पर अनंत अनुराग, अनंत प्रेम, अनंत शक्ति चाहिए। जब तक इन वस्तुओं का आभाव रहेगा तब तक मातृभाषा की उन्नति उन्नति चिल्लाना केवल गाल बजाकर भूख बढ़ाना है। इस देश में थोड़े से लोग हिन्दी लिखते हैं, उनमें से बहुत ही थोड़े लोग हिन्दी लिखने की योग्यता रखते हैं। जितने लोग हिन्दी पढ़ते हैं, उनमें से बहुत ही थोड़े लोग पढ़ी हुई बात को समझने की शक्ति रखते हैं। यदि सचमुच ही आप हिन्दी की उन्नति चाहते हैं तो दोष दूर करने

की चेष्टा कीजिए। दोष दूर करने का उपाय केवल पढ़े हुए से लिखने के साथ उनकी लिखी हुई चीजें बिकवाने की चेष्टा करना है।"[4]

वस्तुतः 19 वीं सदी में हिन्दी और देवनागरी लिपि को लेकर जो अभियान चलाया गया था। इस अभियान की विचारधारा और सकर्मक भूमिका ने जन्-समूहों को प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किया। इसमें सामाजिक रूप से उस समय के धार्मिक संगठन इसका नेतृत्व कर रहे थे। प्रयाग हिंदू समाज, आर्य-समाज, श्री भारत धर्म महामंडल, ने हिन्दी और नागरी के प्रश्न को धर्म से जोड़ने का प्रयास किया। जिससे विशेष रूप से हिन्दुओं का धार्मिक ध्रुवीकरण हुआ। इसी की अगली कड़ी 20वीं सदी के शुरूआती दशकों में भाषा के मानकीकरण की ओर सक्रिय हुई। किसी भी क्षेत्र की सांस्कृतिक अस्मिता वहाँ के बुद्धिजीवी और प्रबुद्ध वर्ग से बनती है।

मिश्रबंधुओं ने परम्परा में इतिहास का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए हिन्दी के जातीय विकास पर विस्तार से चर्चा की है। परंपरा में पौराणिक ग्रन्थों में लोक तत्व के समावेश से भाषा के इतिहास- का विकास क्रम निर्धारित करते हैं। -"हिन्दी की उत्पत्ति कहने से पूर्व यह उचित समझ पड़ता है कि अत्यंत सूक्ष्मता के साथ भारतीय रंगमंच का कुछ कथन कर दिया जाए ... सूत्र-काल में ही बौद्ध तथा जैन मतों के मानसिक आक्रमणों से वैदिक मत-कट-सा गया, और पौराणिक मत स्थापना की नीव पड़ी, इस नवीन मत ने वैदिक मत को बिना निन्द्रा ठहराए ही उसके कुछ सिद्धांत मान लिए तथा नवीन विचारों के साथ नए सिद्धांत उनमे परम प्रचुरता से जोड़ दिए। सीदियन (तुरुक-शक) यवन परमार, गुज्जर आदि आदि अनेक नेक जातियां पौराणिक काल में आ-आकर समाज में मिलती गईं तथा प्राचीन अनार्यों का भी उसमें स्थान ठीक हो गया। ये सब नई-पुरानी जातियां मिलकर एक पूरी हिंदू-जाति बनी।

इस संगठन में केवल ब्राह्मणों का हाथ नहीं था, वरन सभी नई पुरानी जातियों तथा सिद्धांतों के लोक द्वारा गृहीत अंश सम्मिलित थे। गोस्वामी जी ने कहा ही है कि

'ध्यान प्रथम युग, मख युग दूजे, द्वापर, परितोषत हरि पूजे।' और कलि के लिए उन्होंने नाम की प्रधानता कही है। हिंदू मत के अंतिम संगठन में व्यासों, शंकर तथा रामानुज की प्रधानता है। बहुतेरे महाशय एक ही व्यास मानते हैं किन्तु स्वयं विष्णुपुराणों में कई व्यास कहे गए हैं, तथा पुराणों के पार्थक्य से ऐसा समझ भी पड़ता है, पुराणों का अंतिम रूप गुप्त काल में ही स्थिर हुआ, किन्तु उसके कुछ भाग पीछे जुड़े हैं।"[5]

इतिहास की तुलनात्मक पद्धति के साथ ही हिन्दी भाषा की उत्पत्ति, उसके विकास, उसके रूप को विस्तार से बताया है-"हिन्दी कि उत्पत्ति जानने के लिए पूर्व वाली भाषाओं का भी कुछ वर्णन आवश्यक है। आदिम में आर्य लोग तिब्बत, उत्तरी ध्रुव, दक्षिणी रूस मध्य एशिया में से चाहे जहाँ से आए हों पर पहले पहल वे खोकंद और बदख्शां में पहुंचे। वहाँ से कुछ लोग फारस की और जमें और शेष आर्यावर्त को चले आए।.....आर्यों ने अपनी भाषा को शुद्ध और पृथक करने के लिए उसे नियमबद्ध तो कर लिया , पर संसार का वास्तविक प्रवाह किसी के रोके नहीं रुकता.....विधुशेखर शास्त्री का कथन है-" आर्यगण की वेद भाषा और अनार्यगण की साधारण भाषा में एक प्रकार का समिश्रण होने से बहुत से अनार्य शब्द वर्तमान का कथ्य, वेदभाषा के साथ मिश्रित हो गए। इस समिश्रण जाट भाषा का नाम ही प्राकृत है।"[6] अतः स्पष्ट है कि वर्तमान हिन्दी का विकास वे प्राकृत से, अपभ्रंश भाषा से मानते हैं।

मिश्रबंधुओं ने संस्कृत काव्यशास्त्र की परंपरा पर विस्तृत रूप से विचार किया है। तुलसी के बहाने वे सरल काव्य के पक्षधर नजर आते हैं-"जान पड़ता है कि, इस लक्षणकार ने उत्कृष्ट काव्य का कथन किया है, न कि काव्य का क्योंकि यह कहता हैं कि इस लक्षण युक्त काव्य को समर्थ काव्य कहना चाहिए। समर्थ शब्द से उत्कृष्टता की झलक आती है। काव्य लक्षण के लिए अद्भुत वाक्य एवं अर्थ का होना आवश्यक नहीं। प्रसाद सुकुमारता एवं अर्थ व्यक्त साहित्य के परम उज्वल गुण है। प्रसाद गुण के

लिए प्रसन्नता, सुंदर शब्दार्थ तथा प्रसिद्ध शब्दों की आवश्यकता है, सुकुमारता के लिए कोमल पद, मृदु अर्थ, सरस वचन तथा ललित रचना की ओर अर्थव्यक्त में भारी सरलता में संदेहहीन अर्थ की, यह गुण गोस्वामी तुलसीदास की रचना में बहुतायत में पाय जाते हैं, परन्तु इनमें कोई अद्‌भुत तत्व नहीं है। एतावता इस गुण का होना न होना ना साधरण काव्य के लिए आवश्यक है न उत्कृष्ट काव्य के लिए।"[7]

देव का कथन देते हुए वे लिखते हैं- स्वाभाविक उत्कृष्ट साहित्य भी प्रायः अभिधामूलक होता है। इतना काव्य-लक्षण पर चर्चा कर देने के बाद लेखक को यह भी महसूस होता कि अधिक लिख दिया। इसीलिए वे सफाई देते हुए लिखते हैं-"इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखकर हमने दोहे के स्वरूप में काव्य लक्षण संख्या न. 1147 में लिख दिया था। इसमें यह ना सोचना चाहिए कि हम ओरों के लक्षणों को अशुद्ध ठहराकर अपना शुद्ध बताते हैं। हमने ओरों के ही सहारे सुद्ध लक्षण सोचकर लिख भर दिया है। काव्य के सुद्ध लक्षण के निर्माण के पथ प्रदर्शन का महत्व जगन्नाथ पंडित राज को प्राप्त है।"[8]

मिश्रबंधुओं के इतिहासग्रन्थ में संस्कृत काव्यशास्त्र की पर्याप्त सामग्री का प्रयोग हुआ है। जिसे आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने इतिहास में नहीं अपनाया। तुलसीदास को काव्यशास्त्र के बारे में अपने विचार का केन्द्र बनाया है।

सरल भाषा के पैरोकार मिश्रबंधुओं ने उन रचनाकारों की भाषा पर भी विस्तार से प्रकाश डाला है जिन्होंने हिन्दी भाषा के रूप को पर्याप्त समृद्ध किया। अमीर खुसरो के सम्बन्ध में वे लिखते हैं- "अमीर खुसरो की भाषा गढ़ी हुई, सुव्यवस्थित, परिपक्व और सबल है। शब्द चयन मिठास लिए हुए भाव व्यंजन सुचारू रूपेण करता है। रचना कल्पना की कोमलता से और सौरभित और स्वाभाविक से अलंकृत है। भाषा में प्रवाह है तथा कथन मार्मिकता है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि खुसरो उर्दू का नाम भी न लेकर हिन्दी को अरबी और फ़ारसी के साथ स्थान देते हैं। इसकी भाषा बहुत मीइथी

और प्यारी होती है। सब तुले हुए तथा भाव सुसंगठित हैं। यह उच्च श्रेणी का सुकवि है।"[9]

यहाँ उन्होंने उर्दू के प्रति अश्रद्धा भी प्रकट नहीं की है। दरअसल साहित्य का चरित्र ही सदैव सामाजिक शक्तियों के विरोध में रहा है। तो साहित्य का इतिहास कैसे उस से अलग हो सकता है। इसीलिए मिश्रबंधु ने हिन्दी और उर्दू को एक भाषा ही माना है।

यही कारण है कि मिश्रबंधु विनोद में साहित्यिक-इतिहास लेखन में कुछ पक्ष अवांतर रूप से अधिक विस्तार प्राप्त कर लेते है। जैसे उन्होंने संगीत और गद्य के बीच अंतर स्पष्ट करते हुए लिखा है-" इन लक्षणों से प्रकट है कि काव्य गद्य और पद्य दोनों में हो सकता है। गद्य, पद्य और संगीत में मुख्य भेद इतना ही है कि गद्य में भाव की अपेक्षा विचार का बाहुल्य रहता है, पद्य में ये दोनों प्रायः सम्भव से होते हैं और संगीत में विचारों की विशेष उनता होती है।"[10]

4.2. मिश्रबंधु विनोद : औपनिवेशिक आधुनिकता और देशज परंपरा

नागरीप्रचारिणी सभा की स्थापना 'क्वीन्स कॉलेज', वाराणसी के नवीं कक्षा के तीन छात्रों- बाबू श्यामसुंदर दास, पं.रामनारायण मिश्र और शिवकुमार सिंह ने कॉलेज के छात्रावास के बरामदे में बैठकर की थी। बाद में 16 जुलाई, 1893 को इसकी स्थापना की तिथि इन्हीं महानुभावों ने निर्धारित की और भारतेन्दु हरिश्चंद्र के फुफेरे भाई 'बाबू राधाकृष्ण दास' इसके पहले अध्यक्ष हुए। काशी के 'सप्तसागर मुहल्ले' के घुड़साल में इसकी बैठक होती थीं। बाद में इस संस्था का स्वतंत्र भवन बना। पहले ही साल जो लोग इसके सदस्य बने उनमें महामहोपाध्याय पं. सुधाकर द्विवेदी, इब्राहिम जार्ज ग्रियर्सन, अंबिकादत्त व्यास, चौधरी प्रेमघन जैसे भारत ख्याति के विद्वान् थे।*

विकास कार्य

सभा ने हिन्दी भाषा के विकास के लिए काम वही कार्य किया, जो फोर्ट विलियम कॉलेज ने भारत के इतिहास लेखन के लिए। डॉ. श्यामसुदर दास नागरी प्रचारिणी सभा काशी के तीन संस्थापकों में अन्यतम थे। इस कार्य में उनके सहयोगी पं. राम नारायण मिश्र तथा ठाकुर शिव कुमार सिंह थे। मिश्रजी भी बाबूजी की भांति पंजाबी थे, जो काशी में आकर बस गए थे और आर्य समाज के अनुयायी होने के कारण हिन्दी सेवा को अपना धर्म समझते थे। उनकी प्रेरणा से ही बाबू गदाधर सिंह ने अपने दुर्लभ ग्रंथों का संग्रह आर्य भाषा पुस्तकालय 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' को सौंप दिया था, जो आज भी इसी नाम से जाना जाता है।*

1900 में हिन्दी में हस्तलिखित ग्रंथों के खोज का कार्य सभा के द्वारा आयोजित किया गया । 1900 से 1908 तक खोज कार्य के निरीक्षक बाबू श्यामसुन्दरदास थे। 1909 से 1916 तक इसके निरीक्षक श्यामबिहारी मिश्र एवं शुकदेव बिहारी मिश्र थे। सभा की खोज में नए- नए कवि नित्य मिलते गए और इन सभी का परिचय मिश्रबंधुओं को होता गया तथा हिन्दी साहित्य का एक वृहद इतिहास प्रस्तुत करने की उनकी योजना परिपक्व होती गयी। काशी की नागरीप्रचारिणी सभा का ध्यान आरंभ ही में इस बात की ओर गया कि सहस्रों हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकें देश के अनेक भागों में, राजपुस्तकालयों तथा लोगों के घरों में अज्ञात पड़ी हैं। अत: सरकार की आर्थिक सहायता से उसने पुस्तकों की खोज का काम हाथ में लिया और सन् 1911 तक अपनी खोज की आठ रिपोर्टों में सैकड़ों अज्ञात कवियों तथा ज्ञात कवियों के अज्ञात ग्रंथों का पता लगाया। सन् 1913 में इस सारी सामग्री का उपयोग करके मिश्रबंधुओं (पं श्यामविहारी मिश्र, डॉ. गणेशविहारी मिश्र, डॉ. शुकदेवविहारी मिश्र) ने अपना बड़ा भारी कविवृत्त-संग्रह 'मिश्रबंधु विनोद', जिसमें वर्तमान काल के कवियों और लेखकों का भी समावेश किया गया है, तीन भागों में प्रकाशित किया।'[11]

तत्कालीन परिस्थितियों में सभा को अपनी उद्देश्यपूर्ति के लिए आरंभ से ही प्रतिकूलताओं के बीच अपना मार्ग निकालना पड़ा। किंतु तत्कालीन विद्वन्मंडल और जनसमाज की सहानुभूति तथा सक्रिय सहयोग सभा को आरंभ से ही मिलने लगा था, अतः अपनी स्थापना के अनंतर ही सभा ने बड़े ठोस और महत्त्वपूर्ण कार्य हाथ में लेना आरंभ कर दिया। इसने हिन्दी की दशा और दिशा को निर्धारित किया। भारतेंदु युग के बाद हिन्दी साहित्य के नियमन, नियंत्रण और संचालन में इसकी महत्वपूर्ण भूमिका है।

डॉ. किशोरीलाल गुप्त ने अपने ग्रन्थ सरोज-सर्वेक्षण में बताया है कि –"प्रारंभिक खोज रिपोर्टों में कवियों का विवरण और सन् संवत ग्रियर्सन के आधार पर दिया गया है। ग्रियर्सन का ही यह प्रभाव है कि रिपोर्ट में इस्वी सन् का प्रयोग होता रहा। यहाँ तक कि जिन कवियों के ग्रंथों में रचनाकाल विक्रम संवत में दिए गए हैं उनके भी समय कभी कभी ईसवी सन् में परिवर्तित कर दिए गए हैं। खोज रिपोर्ट को प्रस्तुत करने वालों ने ग्रियर्सन का पल्ला पकड़ा है। स्वयं ग्रियर्सन ने जिन शिवसिंह सेंगर का सहारा लिया था उन्हें भुला दिया गया है। एक अंग्रेज सिविलियन का काम एक पूर्ववर्ती देशी पुलिस इंस्पेक्टर के काम से अच्छा और प्रासंगिक माना गया। परिणाम यह हुआ कि ग्रियर्सन ने 'उ०' का अर्थ करने में जो भ्रान्ति की थी वह खोज रिपोर्ट में भी ज्यों की त्यों उतर आई जो रिपोर्ट पर प्रत्यक्ष नहीं अप्रत्यक्ष प्रभाव है।"[12]

वस्तुतः एक सचेत अभिप्राय और उद्देश्य ने हिन्दी साहित्य ही नहीं विभिन्न प्रकार के साहित्यिक प्रतिमानों के निर्माण की भी दिशा निर्धारित की। किन्तु इतिहास में यह दिशा वैयक्तिक इच्छा से भिन्न, कभी-कभी विपरीत परिणाम उत्पन्न करती हैं। क्योंकि इतिहास की चालक शक्तियाँ मनुष्य की चेतना से भिन्न होती हैं। पहले तो यह क्रिया प्राकृतिक जान पड़ती है और इनमें कार्य-कारण सम्बन्ध दिखाई देता है। और जब उसके ऐतिहासिक चरित्र का नहीं उसके अर्थ का पता लगाने का प्रयास होता है, उसके पहले ही वह एक स्थायित्व प्राप्त कर लेता है। यह सिद्धांत किसी संस्था के

ऐतिहासिक मूल्य को दर्शाता है कि ऐतिहासिक ह्रास समेत तमाम पक्षों में वे इतिहास के अधीन होती हैं।

मिश्रबंधु विनोद का हिन्दी में लिखित हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास है। इसका प्रथम संस्करण 1913-14 में प्रस्तुत किया गया था। इसके पश्चात काल के संस्करण में परिवर्तन होता रहा है। विनोद की रचना के दो मुख्य आधार हैं, ग्रियर्सन एवं सभा की खोज रिपोर्ट । सरोज का यत्र-तत्र सीधा सहारा लिया गया है। ग्रियर्सन एवं सभा की खोज रिपोर्ट द्वारा इसका सहारा अप्रत्यक्ष रूप से तो लिया ही गया है। सरोज के संवतों को प्रायः जन्म संवत स्वीकार किया गया है। इनमें से अधिकांश को विनोद में भी जन्म संवत माना गया है पर अनेक स्थलों पर विनोद में सरोज अथवा ग्रियर्सन में दिए गए संवत् को रचनाकाल को भी माना गया है। उदाहरण के लिए अनीस, अवध बक्स, अकूब, आसिफ खां, उधौ राम, कविराज बंदीजन का नाम लिया जा सकता है। यह अंतर अन्य स्थलों पर मिलेगा।

डॉ. किशोरीलाल गुप्त ने अपने सरोज सर्वेक्षण में परिशिष्ट में दी हुई तालिका में यह अंतर स्पष्ट दिखाया है। उन्होंने ग्रियर्सन, सरोज और मिश्रबंधु विनोद सभी के कवियों को, उनके अंक सहित एक तालिका बनाई है। इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि मिश्रबंधु, सरोज में दिए गए संवत को उपस्थित काल अथवा रचना काल समझते हैं। वास्तविकता यह है कि वे भी ग्रियर्सन की ही आँखों देखते हैं 'उ.' का अर्थ उत्पन्न ही करते हैं यह बात उन कवियों के प्रसंग में स्पष्ट हो जाती है जहाँ विनोद में सरोज के संवत को जन्म संवत मानकर नवोपलब्ध प्रमाण के आधार पर अशुद्ध सिद्ध किया गया है। यदि सरोज के उक्त संवत को उपस्थित संवत मान लिया जाए तो अशुद्ध सिद्ध संवत शुद्ध सिद्ध हो जाता है।

स्पष्ट है कि मिश्रबंधु विनोद एक वृहद परियोजना का ही अंग था। मिश्रबंधुओं को अपना प्रयोजन स्पष्ट था, 'हिन्दी साहित्य इतिहास विषयक एक ग्रन्थ बनाने की इच्छा'। वे अपने ग्रन्थ की प्रेरणा में लिखते हैं- "हमने भाषा के उत्तमोत्तम, सत् नवीन

कवियों की कविता पर समालोचना लिखने का निश्चय किया है और उन आलोचनात्मक लेखों के आधार पर हिन्दी का जन्म और गौरव या अन्य किसी ऐसे ही नाम की पुस्तक का निर्माण करने का भी विचार है। इसमें हिन्दी में उसके जन्म से अध्यावधि क्या-क्या उन्नति और अवनति हुई है। और उसके स्वरूप में क्या क्या हेरफेर हुए हैं इनका वर्णन किया चाहते हैं। यह कार्य समालोचना सम्बन्धी ग्रंथों के बहुतायत के प्रस्तुत हुए बिना और किसी प्रकार नहीं हो सकता, इसी हेतु हमने समालोचना करने का प्रारंभ किया है। और जब शंकर की कृपा से एक सौ उत्तमोत्तम कवियों की समालोचना लिख जाएगी। तब उक्त ग्रन्थ के बनने का यत्न करेंगे।....पहले तो हमारा विचार था कि प्रायः सौ कवियों की रचनाओं पर समालोचनाएं लिख कर उन्हीं के सहारे इतिहास-ग्रन्थ लिखें।"[13]

इस ग्रन्थ में उनकी पुनरुत्थानवादी चेतना स्पष्ट दिखाई देती है। साहित्य और पत्रिका के माध्यम से सर्वप्रथम अनऔपनिवेशिकरण (डीकोलोनैजेशन) की अभिव्यक्ति को प्रदान की गयी। साहित्य, पत्रिका और संस्थाओं के माध्यम से एक व्यापक 'जनक्षेत्र' का निर्माण किया जा रहा था। राजनीतिक जनक्षेत्र से पहले ही सहित्यिक जनक्षेत्र सक्रिय हो जाता है। मिश्रबंधु भी साहित्यालोचना को दिशा देने का प्रयास कर रहे थे। 'सरस्वती' पत्रिका और सभा ने मात्र हिन्दी भाषा के प्रतिमान निर्माण ही नहीं पूरे हिन्दी क्षेत्र में एक 'कॉमन सेन्स' का विकास करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। जिसमें इतिहास का पुनर्निर्माण अपने मुखर रूप में दिखाई देता है । मिश्रबंधु लिखते हैं- "यदि वर्तमान लेखकों में से कतिपय विद्वान दस-दस पांच-पांच कवियों को लेकर उनके ग्रंथों का पूरा अध्ययन करके उन पर समालोचनाएं प्रकाशित करें तो अच्छे समालोचना संबंधी लेख भी निकल सकते हैं और उनके आधार पर बढ़िया ग्रन्थ भी बन सकते हैं। यदि उन्नत भाषा के साहित्य-इतिहासवाले ग्रन्थ देखें जाएँ तो प्रकट होगा कि उनके लेखक साधारण कवियों के बारे में भी दो- चार विशेषण ऐसे चुस्त

कर देते हैं, जो उन्हीं रचैताओं के विषय में लिखे जा सकते हैं किसी और के लिए नहीं। हमारे यहाँ अभी कुछ दिन तक ऐसे इतिहास-ग्रंथों का बनना कठिन है।"[14]

द्विवेदीयुगीन लेखकों के 'पहचान का संकट' में जहाँ एक तरफ प्रतिरोध का स्वर प्रमुख था वहीं प्रतिरोध की प्रक्रिया भी वही अपनाई गयी, जिससे प्रतिरोध उत्पन्न हुआ। मिश्रबंधु विनोद में मिश्रबंधु लिखते है-"एक तो वहाँ के उत्कृष्ट गद्य लेखकों की बराबरी हमलोग नहीं कर सकते और दूसरे उनको मसाला बहुत अच्छा मिलता है। वहाँ समालोचना सम्बन्धी हजारों बढियां लेख वर्तमान है और प्रत्येक कवि के गुण-दोषों का पूरा विवरण उस कविकृत ग्रन्थ का एक पृष्ठ पढ़े बिना भी ज्ञात हो सकता है। ऐसी दशा में अच्छा साहित्य इतिहास, लेख थोड़े परिश्रम से भी उत्कृष्ट ग्रन्थ लिख सकता है। हमारे यहाँ यह दोष है कि कपड़ा बनाने के लिए उसी व्यक्ति को खेत जोतने, बोने, सींचने, रखवाली करने, काटने, रुई निकालने, ओटने, काटने, अच्छा सूत बनाने और कपड़ा बीनने का काम करना पड़ता है।"[15]

आदि-प्रकरण के, पूर्व-प्रारंभिक हिन्दी, चंद-पूर्व की हिन्दी, में उन्होंने अपने पूर्ववर्ती इतिहासकारों से नयी बातें जोड़ी हैं। राहुल सांकृत्यायन के शोध के आधार पर उन्होंने नाथ, सिद्ध कवियों का पूरा परिचय दिया है। कवियों की कविताएँ संगीत की राग-रागिनियों पर दी गईं हैं। इस काल के कवियों की कविताओं पर उनका निष्कर्ष है-"समय के फेर उस काल की बहुत कम कविता अब प्राप्त है ,हम नहीं कह सकते कि उस काल के कविगण किस प्रकार के विषयों पर लोकरंजन करने का प्रयत्न किया करते थे। जितना कुछ सामने है, उस से प्रकट होता है कि उन महर्षियों ने धर्म और नीति पर ही अधिक श्रम किया, विशेषतः धर्म पर।"[16] यहाँ भी कविताओं की विषयवस्तु का निर्धारण पूरे परम्परागत परिचय के साथ है। फिर इस क्रम में देश, जातीयता का रोना रोया गया है-"इस समय...युद्धकर्ता थे किन्तु समर कौशल की

कमी थी, भारत मौजूद था, किन्तु भारतीयता का विचार न था। इन बातों से प्रकट होता है कि हमारे तत्कालीन कविगन तथा समाज ने अपने पूर्ण उत्तरदायित्व को न पहचाना था। धार्मिक साहित्य तो बनता था, किन्तु देशप्रेम का आभाव था। संस्कृत साहित्य तथा व्याकरण पर ध्यान था, देश रक्षा पर नहीं । अनावश्यक विषयों की धुनी में हमारे पूर्व पुरुष आवश्यक बातों को भूल बैठे थे कारण भी सुन लीजिए।"[17]

वास्तव में बरतानिया हुकूमत के औपनिवेशिक दौर में देश की कल्पना जन्म –"इससे प्रकट है कि उनसे एक दो शताब्दी पूर्व से ही दक्षिण तक में आर्य सभ्यता का अच्छा विस्तार हो चुका था। रेल, तार, आदि के आभाव में हमारे पूर्व पुरुषगण इतने बड़े देश को सम्भाल ना सके, जिससे साम्राज्य के स्थान पर खंड खंड राज्य मात्र स्थापित हो सके। उन लोगों ने सामजिक नियम ऐसे असुंदर बनाए कि सैकणों राज्यों की भिन्नता होते हुए भी सारे भारत वर्ष में आर्य सभ्यता प्रायः एक सी रही। यह बड़ी महत्व की बात थी जो हमारे पूर्व पुरुषों ने सम्पादित की। किन्तु ऐसा करने के लिए उन्हें भिन्नता को ध्यान से हटा कर एकता पर विशेष विचार करना पड़ा होगा, जिस से राज्य की शक्ति की महत्व पर कम ध्यान रह गया, अथच समाज के कुछ शेष अंगों पर अधिक। इन्हीं कारणों से जहाँ उन लोगों ने आर्य सभ्यता के सौंदर्य को सारे देश में व्याप्त कर दिया, वही राजकीय शक्ति पर यथोचित ध्यान न रहने से देश भक्ति , समर कौशल आदि की क्षीणता हो गयी जिस से विदेशियों ने कई बार हमें सुख से जीत लिया।"[18] औपनिवेशिक दौर देश, देश की संकल्पना और उस पर विचार मिश्रबंधु की चिंता का स्वाभविक अंग थी।

आज जब उत्तर औपनिवेशिक दौर में 'देश', 'राष्ट्र', 'जातीयता' आदि की संकल्पना पर ही प्रश्न चिन्ह लगने लगे हैं तब हिन्दी के प्रारम्भिक ग्रंथों को पुनः टटोलने की आवश्यकता अपने आप ही प्रमाणित हो जाती है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में निर्मित प्रतिमान का प्रारंभिक इतिहासों से नाभि नाल सम्बन्ध है। जिन्हें सिर्फ कवि

वृत्त संग्रह कह कर उपेक्षित नहीं किया जा सकता है। भले ही आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने उनके लिए 'कवि वृत्त संग्रह' संज्ञा का उपयोग किया हो किन्तु उनके इतिहास में इन कविवृत्त संग्रहों की ही पद्धति का अच्छा ख़ासा पालन हुआ है। उल्लेखनीय है कि उन्होंने स्वयं भी इतिहास लिखने का नहीं सोचा था। उनका इतिहास तो 'हिन्दी साहित्य का विकास' नाम से प्रकशित हुआ था, जो हिन्दी शब्द सागर की भूमिका के लिए लिखा गया था। उसी प्रकार जैसे ग्रियर्सन ने अपने ग्रन्थ को इतिहास नहीं कहा है। किन्तु बाद में वह हिन्दी साहित्य का इतिहास हो गया। शुक्ल जी ने परम्परा में ग्रियर्सन से जो भी लिया, उसका तो उन्होंने विवरण नहीं दिया, पर मिश्रबंधु विनोद से जो लिया उसका विवरण भी पूर्णतः नहीं दिया है। उन्होंने न सिर्फ कवियों के विवरण ही लिए हैं बल्कि मिश्रबंधुओं की तुलनात्मक पद्धति, विधाओं का विकास, कवियों का श्रेणीकरण और प्रवृत्तिओं का स्पष्टीकरण आदि का उनके ग्रन्थ पर स्पष्ट छाप है।

मिश्रबंधुओं ने अपने इतिहास में कवियों को इतिहास के भीतर से दिखाते हुए उनके साहित्य का परिचय ही नहीं दिया बल्कि उनका क्रम निर्धारण, श्रेणीकरण और किसी खास विशेषता का प्रतिनिधि कवि कौन है? इसकी भी जांच पड़ताल की है। उन्होंने सिद्धों और नाथों के साहित्य का विवरण तो दिया है। और उन्हें पर्याप्त प्राचीन बाते है किन्तु उन्होंने चंद को ही हिन्दी का पहला वास्तविक कवि माना है-"हिन्दी का वास्तविक कवि चंद बरदाई ही कहा जा सकता है, और इसका रासो अब तक प्रसिद्द है। इसके पहले हिन्दी प्रायः नाम-मात्र को पाई जाती है।"[19] इसके साथ ही मिश्रबंधुओं ने रासो काव्य की प्रमाणिकता पर भी चर्चा की है।

रामानंद का विवरण देत हुए उन्होंने उनकी महत्वता को शिष्य परंपरा में दिखाया है। और उत्तर भारत पर उनके प्रभाव की तुलना की है। रामानुजाचार्य से चली शिष्य परंपरा का विकास कैसे पूरे भारत में एक आंदोलन को आकार देता है, इसकी चर्चा की है। यहाँ वल्लभाचार्य से भी तुलना की है। वे लिखते हैं- "इनकी भक्ति प्रगाढता

और काव्य प्रेम के कारण इनके पंथियों द्वारा हिन्दी का बड़ा उपकार हुआ।....रामानुजाचार्य शूद्रों को अपने सम्प्रदाय में नहीं रखते थे किन्तु आपने उन्हें भी अपनाया।...आपके शिष्यों तथा शिष्य परंपरा में कबीरदास और तुलसीदास भारी महात्मा हुए गोस्वामी तुलसीदास के पूर्व रामानंदियों में आध्यत्म रामायण की प्रमुखता थी। पीछे से ना केवल रामनंदियों में वरन सारे भारत में तुलसीकृत रामायण की महत्व हुई। उत्तरी भारत में दक्षिण मार्ग की शुद्ध वैष्णवता के प्रचार में सर्वप्रथम तथा श्रेष्ट प्रभाव स्वामी रामानंद का ही पड़ा। गोस्वामी तुलसीदास तथा कबीरसाहब के जो प्रभाव हैं उनका बहुत बड़ा श्रेय रामानंद ही को है।"[20]

मिश्रबंधु कभी साहित्यकार की दृष्टि से इतिहास को देखते हैं, फिर इतिहासकार की दृष्टि से साहित्य को देखते हैं। एक तरफ़ साहित्यकार का ऐतिहासिक आलोचनात्मक दृष्टिकोण तो दूसरी तरफ इतिहासकार का ऐतिहासिक दृष्टिकोण है। शुक्ल जी ने विनोद को कविवृत संग्रह कह कर इसे कमतर आँका है। उनके ग्रन्थ में मात्र कवियों का विवरण ही नहीं अपितु उन्होंने साहित्येतिहास के सभी तत्व मिश्रबंधु विनोद से ही लिए हैं।

कबीर और विद्यापति के सामाजिक प्रभाव का विवरण भी दिया है। कबीर के विवेचन में वे लिखते हैं कि वे सच्ची अनुभूति के प्रदर्शक हैं- " यह महाशय जाति के जोलाहे थे, पर हिंदू धर्म के एक प्रसिद्ध सुधारक हो गए हैं। इनका चलाया हुआ मत कबीर-पंथ कहलाता है, और लाखों मनुष्य अब भी कबीर-पंथी हैं। रीवा के महाराजा वीरसिंह देव इनके शिष्य थे। कविता की दृष्टि से इनकी ऊल्टवांसी पहुत प्रसिद्द है। इनकी गणना नवरत्न में है। इन्होंने खरी बातें बहुत उत्कृष्ट और साफ़ साफ कही हैं, इनकी कविता में हर जगह सच्चाई की झलक देख पड़ती है इनके ऐसे बेधड़क कहनेवाले कवि बहुत कम देखने में आते हैं। कबीर जी का अनुभव खूब बढ़ा-चढ़ा था, और इनकी दृष्टि अत्यंत पैनी थी।...

कबीर साहब का भी पंथ चल रहा है, जो कबीर पंथ कहलाता है। इसमें योग सम्बन्धी शारीरिक क्रियाओं तथा चरित्र संबंधी बातों की विशेषता है, किन्तु विवेकवाद का आभाव सा है।"[21]

सूर के बारे में लिखते हैं-" सूरवाली श्रेंगारिक लीलाएँ धार्मिक एवं माधुर्यमयी हैं। आगे चलकर कवियों के ऐसे वर्णन अनुचित श्रृंगार में आ गए हैं, किन्तु सूर की भक्ति सात्विक थी। लोकादार्शों से भी सूर च्युत नहीं हुए। हमारी समझ में इनके विषय में ऐसी समालोचना अनुपयुक्त है। सूर विलासी कवि न होकर संत थे। वह भगवान की लीलाएँ गाते थे। उन पर उन्होंने बल अवश्य नहीं लगाया। हाँ, लोकसंग्रह की ओर वह अधिक न थे।"[22]

जायसी के बारे में लिखते हुए उन्होंने जायसी की भाषा की तुलना सूर की भाषा से की है और जायसी के कथ्य की तुलना वे वाल्मीकि से करते हैं।

मिश्रबंधुओं ने अपने ग्रन्थ की भूमिका में ही लिखा था कि किसी समृद्ध जाति के साहित्येतिहास में लेखक गौड़ कवियों के बारे में भी एक-दो पंक्ति ऐसी लिख देते हैं जो सिर्फ उसी कवि के लिए प्रयुक्त की जा सकती है। इस पद्धति को मिश्रबंधुओं ने भी पालन करने का पूर्ण प्रयास किया है।

मिश्रबंधुओं ने साहित्य के विकास को आर्थिक- सामाजिक संदर्भो से जोड़कर एक सांस्कृतिक प्रक्रिया के रूप में देखा। रासो-काल की समाप्ति के बारे में लिखते हैं-"यहीं से रासो काल समाप्त होता है...रासो काल में मुसलामानों ने उत्तरी पंजाब से बढ़कर सारे उत्तरी भारत पर अधिकार कर लिया । रासो काल में प्राप्त कवियों की रचनाओं से प्रकट है कि धार्मिक शिक्षा पर ही हमारा मुख्य बल रहा। यही उस काल का देश-प्रेम था ....मुसलमान अपने बल से न जीतकर हमारी निर्बलता से जीते... मुसलमान हमारे फाटक को प्रायः 500 वर्ष सम्भले तो भी नहीं। अब उन्होंने सुखपूर्वक भारत

पर अपना प्रभुत्व फैले।... जजिया भी हिंदू को केवल स्वमत न छोड़ने के कारण देना पड़ता था। सामाजिक संग्राम शांति में भी जारी था।"[23]

साहित्यिक विधाओं के विकास पर बात करते हैं, यही पद्धति आगे शुक्लजी में भी दिखाई देती है, वे भारतेंदु के बहाने साहित्य की विधाओं के विकास को भी दिखाते चलते हैं।

जो प्रवृत्ति मिश्रबंधुओं के समय साहित्य में दिखाई देती है, वही उनके ग्रन्थ में। अन्य प्रारंभिक इतिहासकारों की तरह मिश्रबंधुओं को भी अपने युग कि सीमाएँ पता थीं। जिनके कारण उन्हें एक मानक इतिहास लेखन में अड़चने भी थीं। पर क्या यह इतिहासलेखन की समस्या केवल उनके ही समक्ष थी? आगे होने वाले लेखकों के समक्ष नहीं थी? असल में इतिहासलेखन की समस्या तो शुक्ल जी के समक्ष भी थी। मिश्रबंधु विनोद के बाद संक्षिप्त गुण की प्रधानता हो चली और शुक्ल जी का इतिहास भी मिश्रबंधु विनोद का संक्षिप्त संस्कारित संस्करण भी माना जा सकता।

मिश्रबंधुओं के साहित्येतिहास का काल विभाजन-

1. प्रारंभिक काल-सम्वत् 700-1444वि. तक
2. माध्यमिक काल-सम्वत् 1445-1680 वि. तक
3. अलंकृत काल- सम्वत् 1681- 1889 वि. तक
4. परिवर्तन काल- सम्वत् 1890-1925 वि. तक
5. वर्तमान काल, सम्वत् 1926-

मिश्रबंधु विनोद के विभिन्न अध्याय-

मिश्रबंधु-प्रथम भाग, 700-1680

1.हिन्दी की उत्पत्ति और काव्य लक्षण,

प्रारंभिक हिन्दी,

पूर्व प्रारंभिक हिन्दी,(700-1340 तक)-2. चंद्रपूर्व की हिन्दी 3.रासो काल 4.उत्तर प्रारंभिक हिन्दी

माध्यमिक हिन्दी, 5.पूर्व माध्यमिक हिन्दी

प्रौढ़ माध्यमिक हिन्दी स0 1561-1680, 6.आष्ठ्छाप 7.सौर काल 8. गोस्वामी तुलसी दास तथा तुलसी काल की हिन्दी 9. पूर्व तुलसीकाल 10. माध्यमिक तुलसीकाल 11. अंतिम तुलसी काल

मिश्रबंधु, द्वितीय भाग-1681-1889

अलंकृत हिन्दी

पूर्वालान्कृत प्रकरण 12.पूर्वालान्कृत हिन्दी 13.महाकवि सेना पति 14. सेनापतिकाल, 15.बिहारिकाल, 16.भूषणकाल, 17.आदिमदेव काल, 18.माध्यमिक देव काल

उत्तरालन्कृत प्रकरण(1791-1889)- 19-उत्तरालंकृत हिन्दी, 20.दासकाल, 21.सूदन काल, 22.रामचन्द्र काल, 23.बेनी प्रवीण काल, 24.पद्माकर काल

मिश्रबंधु विनोद , तृतीय भाग, 1890-1955 वि0

25.अज्ञात काल –

परिवर्तन प्रकरण 26.परिवार्तन कालिक हिन्दी, 27.द्विज देव काल, 28.दयानंद काल

वर्तमान प्रकरण 29.वर्तमान हिन्दी एवं पत्र-पत्रिकाएँ एवं हिन्दी ,30. पूर्व हरिश्चंद्र काल ,31 उत्तर हरिश्चन्द्र काल

मिश्रबंधुविनोद -चतुर्थ भाग ,1946-1990 वि0

32.पूर्व नूतन परिपाटी,

उत्तर नूतन परिपाटी – 33.प्रथम भाग,34. द्वितीय भाग

जहाँ मिश्रबंधु अपने ग्रन्थ में व्यक्तिपूजा करते दिखते हैं और कवियों के नाम पर उन्होंने अध्याय विभाजन किया है, तो अपने ग्रन्थ को अपने नाम से अलग कैसे सिर्फ इतिहास ही कह सकते थे। मिश्रबंधुओं ने अपने ग्रन्थ को 'मिश्रबंधु विनोद...' नाम और साथ ही उन्होंने लिखा '...अथवा हिन्दी साहित्य का इतिहास और कवि कीर्तन'। नलिन विलोचन शर्मा ने लिखा है कि "मिश्रबंधुओं को श्रेय यह है कि हिन्दी साहित्य का इतिहास, इस नाम के लिए प्रछन्न मोह रखते हुए भ, उन्होंने इसका प्रत्यक्ष व्यवहार उस विशाल ग्रन्थ के लिए भी नहीं किया, जिसे उन्होंने मिश्रबंधु विनोद कह कर ही संतोष कर लिया । यदि वे विनोद को हिन्दी साहित्य का इतिहास कहते तोहिन्दी के साहित्यिक इतिहास का आभाव देखते हुए वह क्षम्य ही माना जाट। उन्होंने ऐसा नहीं किया, यह उनके विवेक, अंतर्दृष्टि और अपनी सीमाएं समझने की शक्ति का परिचायक है। मिश्रबंधु ने भले ही साहित्यितिक इतिहास ना लिखा हो, किन्तु साहित्यिक इतिहास विषयक उनके विचार इस संबंध में उनकी सजगता के प्रमाण है।"[24] शर्मा जी ने मिश्रबंधुविनोद को साहित्यिक इतिहास भी नहीं माना है। जैसे वे मिश्रबंधुबंधु विनोद नाम से ही एक राय बना लेते हैं। यह तो वही बात हुई जैसे 'शिवसिंह सरोज'। यह नाम तो ग्रन्थ के साथ अपना नाम जोड़ना मात्र है। असल में यह ग्रन्थ की विषयवस्तु की और संकेत नहीं करता। शर्मा जी ने ग्रन्थ को इतिहास न मानने की वजह बताई है-" मिश्रबंधुओं ने उन्नीसवीं शताब्दी के पश्चिमी साहित्यिक

इतिहास की उस प्रचलित प्रणाली पर ध्यान हीई नहीं दिया जिसे विधेयवादी प्रणाली कहते है। और जिसे अपनाने का सर्वप्रथम श्रेय शुक्ल जी को दिया जाता है, जिन्हें इसका थोड़ा गर्व भी है।"[25]

किशोरीलाल गुप्त ने लिखा है कि नलिनविलोचन शर्मा जो तासी को निर्विवाद रूप से हिन्दी साहित्य का पहला इतिहासलेखक कहते हैं, उनका मिश्रबंधु-विनोद को इतिहास ना मानना शोभाजनक एवं युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। उन्होंने देवीशंकर अवस्थी को भी उद्धृत करते हुए लिखा है कि "मिश्रबंधु ने अपने विनोद को हिन्दी साहित्य का इतिहास कहने की गलती स्वयं नहीं की'... विधेयवादी इतिहास लेखन के क्षेत्र में उनके महत्व का मूल्यांकन उन्हें श्रेष्ठ स्थान का अधिकारी सिद्ध करता है।'.. यह उपसंहार वदनोघात का अच्छा उदाहरण है।"[26]

इस प्रकार किशोरीलाल गुप्त ने प्रमाण के साथ प्रस्तुत किया है कि मिश्रबंधुओं ने अपने ग्रन्थ की विषयवस्तु का संकेत भी किया, उसे इतिहास भी कहा और अपना नाम भी दे दिया। उन्होंने हिन्दी साहित्य का इतिहास भी लिखा जो गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ से 1939 में प्रकाशित हुआ।

मिश्रबंधु विनोद में तीं लेखकों का विचार एक साथ संकलित किया गया है। जिससे विषय का बहुत विस्तार हो गया है। ज्ञात है कि हिन्दी साहीत्य का इतिहास तो मुख्य रूप से विश्वविद्यालयी अध्ययन-अध्यापन की प्रक्रिया का अंग है।

पश्चिम का ठेठ इतिहासबोध प्रकृति के समयबोध को खंडित करके ही वर्तमान इतिहासबोध तक पहुँचता है। जहाँ व्यक्ति न तो सही मायने में आधुनिकताबोध को हासिल कर पाता है और न ही अपनी स्मृति से ही जुड़ पाता है। इसीलिए मिश्रबंधुओं ने पश्चिम से मांगी हुई इतिहास की अवधारणा को स्वीकार नहीं किया क्योंकि वह भारतीय सन्दर्भ में और पूरे मानवीय सन्दर्भ में भी निरर्थक सिद्ध होती है। इस इतिहास ने मनुष्य के लिए अपनी सांस्कृतिक परम्परा को एक – अतीत, मृत, बीती

हुई चीज में बदलने की कोशिश की जबकि किसी भी जाति के वर्तमान में उसकी सांस्कृतिक परम्परा कोई बीती हुई कहानी न होकर वर्तमान को सार्थकता प्रदान करने वाली चीज होती है।

यूरोप के लिए राष्ट्रवाद के युग के तौर पर जाना जाने वाला समय भारत जैसे देशों के लिए उपनिवेशवाद का युग या गुलामी का युग था। हमारी आधुनिकता हमारे यहाँ उपनिवेशवाद पर सवार होकर आती है। प्रगति, न्याय, समता और मुक्ति के जैसे आदर्शों से हमारा साबका ऐसे हालत में पड़ता है जहाँ एक सिविलाइजिंग मिशन के तहत हम गुलाम बना लिए जाते हैं। "कोई भी राजतंत्र ``` चाहे वह कितना ही क्रान्तिकारी, मानव-कल्याण के आदर्शों से ओत-प्रोत क्यों न हो ``` जब मेरे संस्कारगत बिम्बों, मेरे जीने की शर्तों को स्वयं परिभाषित करने लगता है, मैं जो हूँ, उसकी अवहेलना करके, मुझे क्या होना चाहिए, इसे आंकने की जिम्मेदारी अपने पर ओढ़ता है ``` वहीँ से मेरे विरोध की सार्थकता शुरू होती है, वहीँ से खुद अपने को पुनः परिभाषित करने का दायित्व शुरू होता है।"[27] आधुनिकताबोध से अनुप्राणित निर्मल वर्मा का यह कथन मिश्रबंधुओं के आधुनिकीकरण ककी प्रक्रिया में योगदान को एकदम साफ़ शब्दों में बयाँ करता है।

मिश्रबंधुओं के ग्रथ में यह पुनरुत्थानवादी चेतना कूट-कूट कर भरी हुई है। उनके ग्रन्थ में आदर्श इतिहास-ग्रन्थ लिखने की चाह ही है जो 4591(लगभग 5000) कवियों का संकलन उन्होंने किया। अनेक अज्ञात कवियों को प्रकाश में लाने का कार्य उन्होंने किया है। संस्कृत काव्यशास्त्र की विस्तृत व्याख्या की गयी है और कवियों की कविताओं को शास्त्र की कसौटी पर परखने की कोशिश की गयी है। कवियों के विवरण के साथ साथ काव्य के विविध अंगों पर विचार। कवियों का श्रेणी निर्धारण का प्रयास। वर्तमान में परंपरा का अवगाहन करते नजर आते हैं।

डा. नामवर सिंह ने इसी सन्दर्भ में लिखा है, कि "उपनिवेशवाद ने एक ओर तो भारत के प्राचीन इतिहास की सामग्री को खोज खोदकर एकत्र किया और दूसरी ओर इसका

उपयोग उपनिवेशवादी सत्ता के हक़ में किया। यह था उपकार के आवरण में अपकार का षड्यंत्र। भारतीय अस्मिता को एक बड़ा खतरा इस 'प्राच्य विद्या' (ओरिएंट्लिज्म) से था जिसने 'पश्चिम' से भिन्न एक ऐसे 'पूर्व' का मिथक गढ़ा जो अनंत काल तक गुलाम रहने का अभ्यस्त था। इस प्राच्यविद्यावाद के विरुद्ध संघर्ष करने के लिये भारतीय नवजागरण ने इतिहास की प्रतिदृष्टि विकसित की।"[28] वस्तुतः इतिहास की इसी प्रतिदृष्टि की आवश्यकता के कारण भारतीय संस्कृति की इस तरह पुनर्खोज करने की कोशिश की गई। जिससे विभिन्न आधुनिक वैचारिक प्रत्यय उसमें समावेशित हो सके। इस प्रक्रिया को 'संस्कृत का मूर्तन' कहा गया है। बम्किनचन्द्र चैटर्जी ने भी लिखा है कोई राष्ट्र अपने इतिहास में अस्तित्व ग्रहण करता है इसलिए अपने इतिहास के ज्ञान ही किसी जाति का आत्मसम्मान है ।

असल में, कोई भी लेखक अपने वर्ग की वर्गीय दृष्टि से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता है। मिश्रबंधु जिस समय लेखन लेखन में सक्रिय थे उस समय की सांस्कृतिक पारिस्थितियों में राष्ट्रीयता और आध्यात्मिकता का अंतरविरोध सक्रिय था। मिश्रबंधु साहित्य के इतिहास को राजनीतिक इतिहास से जब जोड़कर दिखा रहे होते हैं तब प्रकारांतर से 'हिन्दी, हिंदू, हिन्दोस्तान' की मानसिकता से संचालित हो जाते हैं और भारत के इतिहास को हिन्दुओं के इतिहास के रूप में दिखाने की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। मुसलमानों के आगमन को भारतीय संस्कृति के पतन से जोड़ा, जिसमें हिंदू जाति के पुनः निर्माण का आह्वाहन भी अप्रत्यक्ष रूप से जुड़ा हुआ है- वे लिखते हैं-"पूर्व माध्यमिक हिन्दी का समय समाप्त हुआ और इसके आगे प्रौढ़ माध्यमिक काल आवेगा। इस पूर्व काल में विद्यापति ठाकुर एवं कबीर जैसे महाकवियों ने हिन्दी का मुख्य उज्ज्वल कर के उसे एक वास्तविक स्वछन्द भाषा बना दिया और महात्मा रामानंद और बाबा नानक और महाप्रभु वल्लभाचार्य जैसे महात्माओं ने भी इसमें रचना करना आवश्यक समझा वैसे ही प्रसिद्द महाराणा कुंभकरण ने भी स्वयं इसमें कविता की और अनेक कवियों को आश्रय दिया । यह महानुभाव हिन्दी के प्रथम टीकाकार हो गए हैं। इस काल हिन्दी साहित्य का साम्राज्य इतना फैला हुआ था कि पंजाब से लेकर

बिहार तक उसकी ध्वजा फहराती थी। राजाओं के यश कीर्तन वाली प्रथा अब बिलकुल टूट गयी और धार्मिक साहित्य का बल खूब बढ़ चला।...यह पूर्व मध्यकाल हमारे हिन्दी –साहित्य में गुरु के समान है।...सूफियों के अतिरिक्त वैष्णवता का मान इस काल बहुत ही अच्छा उठा।"[29]

नवजागरण कालीन लेखकों ने 'स्वत्व' निर्माण के लिए तथा अन्य से स्वयं को अलगाने के लिए अतीत का सहारा लिया इन लेखकों ने एक गौरवपूर्ण अतीत को गढ़ने के क्रम में इतिहास तथा मिथक के बीच का अंतर मिटा दिया और मिथकों का प्रयोग भी ऐतहासिक सत्य के रूप में किया गे। इस प्रकार एक विशिष्ट प्रकार का आदिकालीन विमर्श गतिशील हुआ रोमिला थापर इस सन्दर्भ में लिखती हैं-" भारतीय राष्ट्रवाद के आदिकालीन विमर्श पर हावी अनैतिहासिकता के तत्वों ने भारत में राष्ट्रवाद पर पूरी बहस को तथ्यों तथा सच्चाइयों के विपरीत भावनात्मकता तथा धार्मिक रूप दे दिया इस प्रकार इतिहास के प्रति एक उपयोगितावादी दृष्टिकोण का विकास हुआ। इस क्रम में अतीत की स्मृतियों की मनमानी व्याख्या का क्रम शुरू हुआ और उसे अपने पक्ष में प्रयोग करने की कोशिशें भी।"[30] हिन्दी लेखन में उपस्थित साम्प्रदायिक स्मृतियों में हिन्दुओं को मुसलमानों से पूर्णतः पृथक एक सुसंगठित समुदाय के रूप में देखा गया हिन्दुओं और मुसलमानों के मध्य अलगाव की भावना को मजबूत करने में उस समय के विभिन्न ऐतिहासिक लेखन ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। मिश्रबंधु विनोद में इस चेतना से आक्रांत है-" हमारे कई हिन्दी ऐतिहासिक, धार्मिक प्रयत्नों में हमारी निराशा का चिन्ह पाते हैं। उन्हें जानना चाहिए कि यदि हमारा समाज निराशा के गर्त में पड़ा होता है तो पांच सौ वर्षों के मुश्लिम शासन में हिन्दुओं का नाम निशान भी न रह गया होता, जैसे कश्मीर में कई कारणों से हुआ । ये तो संहिता-काल के पीछे से धार्मिक निराशा का समावेश चला आत अहि। किन्तु कोई वास्तविक नैराश्य मुसलमान काल में नहीं आया।"[31]

वस्तुतः साहित्येतिहास लेखन भी ऐतिहासिक लेखन में विकास क्रम की कथा कहता है, जिसमें साहित्येतिहास लेखन से जुड़ी पद्धति, दृष्टिकोण, एवं स्वयं साहित्येतिहास के प्रति बदलते विचार भी जुड़ जाते हैं। इसीलिए इतिहासलेखन का इतिहास भी इतिहासचिंतन का इतिहास होता है। अंततः यह अध्ययन है,मानव के अतीत बोध के विकास का।

लुसिए गोल्डमान ने साहित्यक कृति के सामाजिक स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है-" प्रत्येक कृति किसी लेखक की रचना होती है और वह लेखक के विचारों और अनुभूतियों को व्यक्त करती है , लेकिन वह विचार और भाव समाज और वर्ग के दूसरे व्यक्तियों के व्यवहार और चिंतन से प्रभावित होते हैं। उनके स्वरूप को लेखक के अपने वर्ग समूह और समाज के दूसरे व्यक्तियों के विचार और भाव को जोड़कर अंतर्वैयक्तिक सम्बन्ध की भावना के रूप में ही समझा जाना चाहिए साहित्यिक कृति सामूहिक चेतना या परावैयाक्तिक चेतना की अभिव्यक्ति इस अर्थ में होती है कि उसकी विश्व दृष्टि की संरचनाएँ लेखक की निजी निर्मिति नहीं होती बल्कि उसके वर्ग के दूसरे व्यक्ति भी उस विशिष्ट विश्व-दृष्टि के सहभागी होते हैं। यही कारण है कि जब भी हमारे सामने किसी दार्शनिक साहित्यिक और कलात्मक धरा के मूल के खोज की समस्या आती है तो हमें मजबूर होकर एक वर्ग या व्यापक समाज से उसके सम्बन्ध की खोज की दिशा में प्रयत्न करना पड़ता है। एक वर्ग की पूर्णतम सम्भावित चेतना ही उस विश्व-दृष्टि का निर्माण करती है। जिसकी अभिव्यक्ति दर्शन, कला और साहित्य में होती है।"[32] परंपरा के प्रति स्वस्थ संवाद भी स्थापित हो सकेगा।

विजयनारयण साही ने अतीत और वर्तमान के संवाद को स्पष्ट करते हुए लिखा है-" पुनर्मूल्यांकन अतीत से, अक्सर समूचे अतीत से नए सम्बन्ध स्थापित करने की कोशिश में जन्म लेता है, उस सम्बन्ध को बिलकुल समाप्त कर देने से नहीं..... हर मूल्यांकन अंततः अपने युग बोध से इतना बंधा हुआ है कि हर प्रयास युग अभिव्यक्ति से अधिक कुछ नहीं है। कल का मूल्यांकन अगर केवल समय बिताने के कारण आज

झूठ पड़ गया है तो आज का पूर्ण मूल्यांकन भी कल उसी तरह झूठ पड़ जाएगा...पुनर्मूल्यांकन पहले की आलोचना और आज की आलोचना के बीच गंभीर संवाद है, महज ताजे के द्वारा बासी को चुटकी में उड़ा देना नहीं है।"[33] जिस प्रकार निर्मल वर्मा में इतिहास को लेकर एक वैचारिक मुठभेड़ है, वही वैचारिक मुठभेड़ मिश्रबंधुओं में भी दिखाई देती है। निर्मल वर्मा भी पश्चिमी प्रतिमानों को उसी से अनुप्राणित होकर कटघरे में खड़ा करते हैं, मिश्रबंधु भी इतिहासलेखन भी पश्चिम से अनुप्राणित था।

उन्हें इस बात का भी श्रेय है कि पश्चिमी तुलनात्मक अध्ययन की पद्धति को हिन्दी साहित्य में प्रतिष्ठापित किया। अपने पूरे इतिहास-ग्रन्थ में उन्होंने कवियों का तुलनात्मक अध्ययन किया है। आधुनिक गद्य के प्रारम्भ के बारे में बताते हुए वे लिखते हैं-" वर्तमान गद्य के जन्मदाता सदल मिश्र और लल्लूलाल माने जाते हैं...लल्लूलाल ने ब्रज-भाषा का ही विशेष प्रयोग किया किन्तु सदल मिश्र ने खड़ी बोली का आधिक्य रखा। ...लल्लूलाल की अपेक्षा उनका गद्य विशेष महत्ता-युक्त है।"[34] इस प्रकार वे कृपाराम का काव्य परिचय देते हुए बिहारी से उनकी तुलना करते हैं। आदि अनेक कवियों का परिचय देते हुए उनकी तुलना करना उनकी समीक्षा पद्धति का प्रमुख अंग है।

मिश्रबंधु कवियों को परम्परा में रख कर उनका श्रेणी निर्धारण मुख समझते हैं। अपने श्रेणी विभाग का कारण बताते हुए वे लिखते हैं- "हमारी सम्मति से विनोद में कथित बहुतेरे कवि कुछ कुछ उत्कृष्ट हैं, फिर भी अपेक्षित दृष्टि से उनमें जमीन-आसमान का अंतर पाया जाता है। इस कारण प्रत्येक कवि की विस्तृत आलोचना करने में कवि-संख्या बाहुल्य से, ग्रन्थ बहुत बढ़ जाता। और कुछ भी स्पष्ट अनुमति न देने से कविता में कम परिचित पाठकों को प्रत्येक कवि की बडाई छोटाई का बहुत कम ज्ञान हो

सकता। ...इन्हीं कारणों से हमने किसी प्राचीन प्रमाण के आभाव में भी श्रेणी-विभाग चलाने का साहस किया।"[35]

मिश्रबंधुओं का श्रेणीविभाग भी उनके ग्रन्थ की एक मुख्य विशेषता है। उन्होंने काल-खंड के निर्धारण में इसी श्रेणी-विभाग को अपनाया है। एक निश्चित कवि के अनुसार अध्याय-विभाग किया है। जिस कवि का सम्बन्धित काल में अधिक प्रभाव था उसी के नाम पर अध्याय विभाजित हैं। बिहारी का वर्णन करते हुए वे तुलसीदास, सूरदासतथा देव के बाद उनकी श्रेणी निर्धारित करते हैं। वे लिखते हैं-"इन्होंने काव्यांग बड़े ही प्रकृष्ट कहे हैं, और रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, आदि बड़े चमत्कारी लिखे हैं। बिहारी ने रंगों के मिलाव के वर्णन बड़े ही विशद किए हैं, तथा प्रकृति निरिक्षण का अल इनके बहुत से छंदों में देख पड़ता है। अंतिम गुण के साथ इनका काइयाँपन भी खूब मिल जाता था, और इन्होंने मानुषीय प्रकृति का वर्णन बड़ा ही उत्तम, सत्य और हृदयग्राही किया है। ...सतसई एक बड़ा ही मनोहर और चित्ताकर्षक ग्रन्थ है।हम इनको परम प्रशंसनीय कवि समझते हैं, और हिन्दी में तुलसीदास, सूरदास, तथा देव के बाद इन्हीं की गणना है।"[36] देव पर चर्चा करते हुए वे लिखते हैं कि –देवजी ऊँचे ख्यालात भी खूब बांधें हैं और अमीरी ठाठ-सामान का वर्णन इनके बराबर कोई भी नहीं कर सका। इन्होंने उपमाएं बहुत ही विलक्षण दी हैं। और इनके रूपक बहुत अच्छे बन पड़े हैं।तुलसीदास और सूरदास के बाद देव का तीसरा नम्बर है।"[37]

मिश्रबंधु विनोद की महत्वता पर प्रकाश डालते हुए किशोरीलाल गुप्त ने लिखा है-" हिन्दी में किसी भारतीय एवं हिन्दी भाषी द्वारा तथा हिन्दी भाषा-भाषियों के लिए लिखित हिन्दी का प्रथम इतिहास है। समग्रतः विचार करने पर यह हिन्दी साहित्य का द्वितीय इतिहास है। अपनी विशालता के कारण यद्यपि भूलों से भी यह भरपूर है पर अभी तक इतने अधिक कवियों का समावेश करने वाला हिन्दी का कोई इतिहास नहीं लिखा गया। भले ही आचार्य शुक्ल, मिश्रबंधु विनोद को बड़ा भारी कविवृत

संग्रह', प्रकंद कविवृत्त संग्रह एवं मिश्रबंधुओं को उत्साही और परिश्रमी संकलनकर्ता मात्र ही कहें पर इसे निस्संदेह रूप से लाभान्वित भी हुए हैं। रीतिकाल के सम्बन्ध में उन्होंने यह स्वीकार भी किया है।"[38]

उपरोक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि विनोद किस प्रकार से साहित्येतिहास लेखन को प्रभावित कर रहा था और और स्वयं किस प्रकार उस से प्रभावित हो रहा था।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. साखी, पत्रिका, (एडवर्ड सईद पर केंद्रित), संपादक- केदारनाथ सिंह, अंक-13-14, जुलाई-दिसम्बर, 2006
2. श्रीनिवास, एम. एन., आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन, 2009, पृष्ठ संख्या-73
3. ***मिश्रबंधु-विनोद,*** मिश्रबंधु, लखनऊ, गंगा पुस्तकमाला, 1972, पृष्ठ संख्या-33
4. गुप्त, बालमुकुंद, बालमुकुंद गुप्त निबंधावली, संपादक- झाबरमल शर्मा, बनारसीदास चतुर्वेदी, संवत -2007, पृष्ठ संख्या-154
5. ***मिश्रबंधु-विनोद,*** मिश्रबंधु, लखनऊ, गंगा पुस्तकमाला, 1972, पृष्ठ संख्या-33
6. वही, पृष्ठ संख्या-33-34
7. वही, पृष्ठ संख्या-38
8. वही, पृष्ठ संख्या-40
9. वही, पृष्ठ संख्या-87-88
10. वही, पृष्ठ संख्या-41
11. शुक्ल, आचार्य रामचंद्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, प्रकाशन संस्थान, सन् 2007 , प्रथम संस्करण का वक्तव्य
12. गुप्त, किशोरीलाल, सरोज- सर्वेक्षण, हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रथम संस्करण, 1967, पृष्ठ संख्या-61
13. ***मिश्रबंधु-विनोद,*** मिश्रबंधु, लखनऊ, गंगा पुस्तकमाला, भूमिका, 1972
14. *वही*
15. *वही*
16. वही, पृष्ठ संख्या-63

17. वही, पृष्ठ संख्या- 64

18. वही, पृष्ठ संख्या-64

19. वही, पृष्ठ संख्या-71

20. वही, पृष्ठ संख्या-97-98

21. वही, पृष्ठ संख्या-101

22. वही, पृष्ठ संख्या-122-123

23. वही, 82-83

24. शर्मा, नलिन विलोचन, साहित्य का इतिहास दर्शन, पटना- बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, विक्रमाब्द-2016,पृष्ठ संख्या-85-86

25. वही, पृष्ठ संख्या-86

26. गुप्त, किशोरीलाल, हिंदी साहित्य के इतिहासों का इतिहास, साहिबाबाद- विभू प्रकाशन, 1978, पृष्ठ संख्या-106

27. वर्मा, निर्मल, भारत और यूरोप प्रतिश्रुति के क्षेत्र, राजकमल प्रकाशन, द्वितीय संस्करण, २००१

28. सिंह, नामवर, हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ, आलोचना पत्रिका 1986, पृष्ठ संख्या-6

29. ***मिश्रबंधु-विनोद,*** मिश्रबंधु, लखनऊ, गंगा पुस्तकमाला, 1972, पृष्ठ संख्या-114

30. थापर, रोमिला, सिंडिकेटेड मोक्ष, संगोष्टी-पत्र, सितंबर 1985, पृष्ठ संख्या-15

31. ***मिश्रबंधु-विनोद,*** मिश्रबंधु, लखनऊ, गंगा पुस्तकमाला, 1972, पृष्ठ संख्या-118

32. पाण्डेय, मैनेजर, साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, 'लुसिए गोल्डमान के साहित्य का समाजशास्त्र', हरियाणा साहित्य अकादमी, 2006, पृष्ठ संख्या- 148)

33. साही, विजयदेवनारायण, स्म्पादक- कंचनलता साही, प्रदीपन एकांश नागरी प्रेस, प्रथम संस्करण, 1988, पृष्ठ संख्या- 35-38

34. ***मिश्रबंधु-विनोद,*** मिश्रबंधु, लखनऊ, गंगा पुस्तकमाला, 1972, पृष्ठ संख्या- 526

35. वही, पृष्ठ संख्या-6

36. वही, पृष्ठ संख्या-261

37. वही, पृष्ठ संख्या-313

38. गुप्त, किशोरीलाल, हिंदी साहित्य के इतिहासों का इतिहास, साहिबाबाद- विभू प्रकाशन, 1978, पृष्ठ संख्या-107

*हिन्दी के भगीरथ : महामना मदन मोहन मालवीय **(हिन्दी)** (एच.टी.एम.एल) युवा जगत् ब्लॉग। अभिगमन तिथि: 15 मार्च,2011

*प्रथम हिन्दी प्राध्यापक **(हिन्दी)** (पीएएचपी) लोकायत। अभिगमन तिथि: 15 मार्च, 2011,

पाँचवा अध्याय

प्रस्तावित ग्रंथों का तुलनात्मक अध्ययन

पाँचवा अध्याय

प्रस्तावित ग्रंथों का तुलनात्मक अध्ययन

" किसी युग की सामाजिक मानसिकता उस युग के सामाजिक सम्बन्धों द्वारा तय की जाती है। कला और साहित्य के बारे में यह बात सबसे अधिक प्रामाणित होती है।"[1]

-प्लेखानोव

"किसी कृति की भीतरी दुनिया को देखने का अर्थ है उन तरीकों का हवाला देना जहाँ कलाकृति का सत्य और भौतिक दुनिया का सत्य एक दूसरे में प्रवेश करते हैं।"[2]

-वाल्टर बेन्यामिन

वाल्टर बेन्यामिन का यह कथन किसी रचना और उसके समय-समाज के बीच के अन्योन्याश्रित संबंधों की व्याख्या करता है। साहित्य के अन्य विधा रूपों के समान ही किसी साहित्य का इतिहास ग्रन्थ भी अपने युग विशेष की ख़ास उपज होता है। जिसमें परंपरा और व्यक्तिगत प्रज्ञा दोनों का समावेश होता है।

एंगेल्स का मानना है सर्वप्रथम एक इतिहास लेखक 'एक सचेत उद्देश्य या अभिप्राय' को लेकर चलता है। किन्तु "इतिहास में सक्रिय अधिकांश वैयक्तिक इच्छाएँ अधिकतर इच्छित परिणामों से बिलकुल भिन्न, अक्सर एकदम विपरीत परिणाम उत्पन्न करती हैं। इसलिए समग्र परिणाम की अपेक्षा उनकी अभिप्रेरणाओं का इसी तरह गौड़ महत्व होता है। दूसरी तरफ अगला सवाल यह पैदा होता है कि इन अभिप्रेरणा के पीछे कौन सी चालक शक्तियाँ मौजूद होती हैं? वे ऐतिहासिक कारण कौन से हैं जो अपने को कर्ताओं के मन में इन अभिप्रेरणाओं में रूपांतरित करती है?...ये चालक शक्तियाँ भी निर्धारित होनी चाहिए, खासकर वे जो विशाल जनता को पूरे पूरे जन गणनाओं को और जन गणनाओं के पूरे पूरे वर्गों को गतिमान बनाती है। जो एक महान रूपांतरण लाने वाली एक स्थायी क्रिया को जन्म देती है।' इतिहास पर लिखे

गया अपने निबंध 'वर्ग-चेतना' में ग्यार्ग लुकाच लिखते हैं कि 'इतिहास की वास्तविक चालक शक्तियाँ उनके बारे में मनुष्य की चेतना(मनोविज्ञान) से स्वतन्त्र होती हैं।"[3] इस प्रकार इतिहासलेखन के सम्बन्ध में वैज्ञानिक मार्क्सवाद की ऐतिहासिक भौतिकवादी व्याख्या में एंगेल्स इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं।

उत्तर-औपनिवेशिक विमर्शों में भले ही पाठ्वादी आलोचक किसी रचना को, किसी कृति को एक कला मानकर उसकी पाठ्वादी आलोचना भी कर सकते हैं और साहित्य को सामाजिक उपज मानने से अस्वीकार भी कर सकते हैं। यहाँ उनका मत भी स्वागत योग्य है। 'कला कला के लिए सिद्धांत' पर परंपरागत एक लंबा विमर्श चलता रहा है और चलना भी चाहिए। जहाँ दो सिद्धांत आपस में टकराते हैं तो उनमें परस्पर संक्रमण से एक उर्वर सिद्धांत निकल कर आता है। और यह समसामयिक विमर्शों को समझने में एक स्पष्ट दृष्टि प्रदान करता है। विमर्शों में विरोधाभास, द्वंद्व ,जिसे आचार्य नामवर सिंह– 'वाद-विवाद-संवाद' कहते हैं, साहित्य-समीक्षा के लिए भविष्योंमुखी पृष्ठभूमि का निर्माण भी करता है।

"एक कला सिद्धांत के पीछे एक विशेष जीवन दृष्टि हुआ करती है, उस जीवन दृष्टि के पीछे एक जीवन दर्शन होता है, और उस जीवन दर्शन के पीछे आज के जमाने में एक राजनीतिक दृष्टि भी लगी रहती है।"[4]

मुक्तिबोध का यह कथन आधुनिक इतिहासलेखन के भिन्न-भिन्न प्रयासों, दृष्टियों को समझने की एक समग्र दृष्टिकोण की तरफ संकेत करता हैं। साहित्येतिहास लेखन की समस्याओं पर हिन्दी साहित्य की आलोचना-पद्धति में विमर्श की एक पूरी प्रणाली दिखाई देती है। इन विमर्शों में प्रायः हिन्दी के प्रारंभिक इतिहास-ग्रंथों की चर्चा बहुत कम होती है। क्योंकि आरम्भिक-ग्रंथों को मात्र कवि-वृत्त संग्रह मानकर, उन पर विचार नहीं किया जाता। आचार्य शुक्ल को इनमें आलोचना और समीक्षा दृष्टि की कमी दिखाई देती है। उनके बाद तो इतिहासलेखन के संदर्भ में इन इतिहास-ग्रंथों की

लेखन पद्धति को, उनके वर्तमान सन्दर्भों में रखकर उनकी समीक्षा के कोई विशेष परिणाम सामने नहीं आए।

जहाँ तक साहित्येतिहास लेखन की समस्याओं का प्रश्न है, तो यह इतिहास लेखन के प्रारंभिक प्रयासों से अनिवार्य रूप से जुड़ा है। इन इतिहास ग्रथों का परवर्ती लेखन पर क्या प्रभाव पड़ा? इन ग्रंथों में अपनाई गई कौन कौन सी पद्धति परंपरा का रूप ग्रहण करती है। इतिहास लेखन की किस विधि को मान्यता मिली? यह सभी प्रश्न इतिहासलेखन की समस्याएँ नहीं हैं तो क्या है? इसलिए साहित्येतिहास लेखन के प्रश्नों पर टकराते हुए हमारा प्रयास प्रारंभिक ग्रन्थों के लिए ज्यादा प्रासंगिक हो जाता है।

5.1. प्रस्तावित ग्रंथों के लेखकों की भाषा नीति

अपनी पुस्तक 'द नेशनलाईजेशन ऑफ हिंदू ट्रेडिशन्स' में वसुधा डालमिया ने हिन्दुओं की भाषा के रूप में हिन्दी के निर्माण और विकास प्रक्रिया का विश्लेषण किया है। वे इस प्रक्रिया को तीन स्तर पर वर्गीकृत करती हैं-" पहला द्विभागीकरण जिसके अंतर्गत हिंदू और उर्दू के बीच अलगाव की प्रक्रिया शुरू हुई। दूसरा मानकीकरण इसके अंतर्गत भाषा के मानकीकृत रूप का विकास किया गया और हिन्दी भाषा में संस्कृत शब्दों तथा उर्दू में फ़ारसी शब्द को सायास शामिल किया गया। तीसरा चरण जो सबसे महत्वपूर्ण था जो इस पूरी प्रक्रिया को वैध्यता प्रदान करने से सम्बन्धित था। इसके अंतर्गत इस भाषाई संक्रमण को इतिहास तथा परंपरा से जोड़ा गया और उसे धार्मिक, साहित्यिक और सांस्कृतिक वैधता प्रदान की गई।"[5]

तासी ने भाषा पर विचार करते हुए पूरे उत्तर भारत की भाषा और साहित्य पर बहुत गहराई से विचार किया है। वे हिन्दुस्तानी के काव्यात्मक महत्व को भी निर्धारित करते हैं।

उस समय तक हिंदी- उर्दू भाषा का स्पष्ट ऐतिहासिक विभाजन, लिपि विवाद, और सबसे बढ़कर साम्प्रदायिक अलगाववाद नहीं हुआ था। हिन्दुई से उनका अभिप्राय हिन्दुओं में बोली जाने वाली हिंदी से है और जिसका आधार संस्कृत है तथा हिन्दुस्तानी से उनका अभिप्राय मुसलमानों में बोली जाने वाली हिंदी से है। जिसका आधार फ़ारसी-अरबी है। हिन्दुस्तानी के भी दो रूप हैं एक उत्तरी भारत के मुसलमानों द्वारा बोली जाने वाली हिन्दुस्तानी, जो उर्दू कहलाती है, दूसरी दक्षिण भारत में मुसलमानों द्वारा बोली जाने वाली हिन्दुस्तानी जो दक्खिनी कहलाती है।

ध्यातव्य है कि तासी एक भाषा वैज्ञानिक थे। उर्दू के प्रोफेसर के रूप में उनके लिए एक पद का सृजन किया गया था। उनके ग्रन्थ में भाषा का विश्लेषण साफ़ दिखाई देता है। उन्होंने हिन्दुस्तानी, हिन्दुई, संस्कृत, फारसी भाषा पर अपने ग्रन्थ में विस्तार से विचार किया है। वहीं शिवसिंह इंस्पेक्टर थे और उन्होंने न सिर्फ खोज की है हिन्दी के सैकड़ों कवियों की और उनका संकलन प्रस्तुत किया है। शिवसिंह जहां कवियों की रचनाओं को 'भाषा' में लिखा हुआ बताते हैं संभवतः वहाँ उनका अभिप्राय होगा कि संस्कृत से इतर साहित्य की भाषा या ब्रज भाषा। उन्होंने संस्कृत से इतर हिन्दी की सभी बोलियों के लिए 'भाषा' संज्ञा का उपयोग किया है।

ग्रियर्सन ने भी अपने इतिहास-ग्रन्थ में 'भाषा' संज्ञा का प्रयोग किया है। मिश्रबंधुओं ने भी अपने ग्रन्थ में 'भाषा' की परिभाषा दी है। इस भाषा शब्द को समझाते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने इतिहास-ग्रन्थ में लिखा है-'संस्कृत मिश्रित हिन्दी को उर्दूवाले भाषा कहते थे'। मतलब साफ़ है कि तासी ने भी और ग्रियर्सन ने भी हिन्दी को भाषा कहा है। और बाद में अपने भाषा विज्ञान के विश्लेषण के आधार पर हिन्दुस्तानी। विदेशी भाषाओं में इतिहास लिखने की शुरुआत भाषा वैज्ञानिकों द्वारा हुई। वहीं हिन्दी में साहसी और खोजी प्रबुद्ध वर्ग के प्रतिनिधियों के द्वारा।

किसी भी राष्ट्र में जन-भाषा उपयोगिता और उसकी जीवन्तता का क्या महत्व हो सकता है यह प्राच्यवादी विद्वानों के शोध का एक बहुत बड़ा क्षेत्र था। आधुनिकता

की परियोजना के तहत जहाँ यूरोप में पहले ही 'समग्रतावादी' भाषा नीति को अपनाया गया था। इस नीति में तमाम क्षेत्रीय विविधताओं को हाशिए पर डालकर एक केन्द्रीय सत्य की निर्मिति की गई। लोक-भाषाओं की उपेक्षा कर एक केन्द्रीय भाषा के मानकीकरण की प्रक्रिया प्रारंभ हुई। राष्ट्र-राज्य के निर्माण में, यूरोप की भूमि विभिन्न भाषाई समूहों के खून से रंगी हुआ है। इस सन्दर्भ में ऐरिक हाब्सबाम लिखते हैं-"कलाओं और जन आंदोलन के बीच संबंध उन देशों में अधिक उजागर था, जहाँ राष्ट्रीय चेतना और एकीकरण के आंदोलन सक्रिय थे। यह अचानक और अकारण नहीं हुआ कि जर्मनी, रूस, पोलैंड, हंगरी और स्कैन्डिनेविया में स्थानीय भाषा और जन की विदेशी भाषा और सत्ता के विरुद्ध सांस्कृतिक सर्वोच्चता एक साथ उजागर हुई। राष्ट्रवाद को सबसे बड़ी अभिव्यक्ति साहित्य और संगीत में ही मिली। आधार था जन-विरासत, लोक-भाषा और लोकगीत।"[6]

लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय द्वारा तासी के ग्रन्थ को 'हिन्दी साहित्य की दीर्घकालीन गाथा' को सूत्रबद्ध रूप में स्पष्ट करने का सर्वप्रथम प्रयास कहना पूर्णतः भ्रामक है। कवियों के विवरण, नाम अकारादिक्रम से दिए जाने के कारण पहले तो इसमें सूत्रबद्धता है ही नहीं, पुनः यह हिन्दी साहित्य की दीर्घकालीन गाथा को प्रस्तुत भी नहीं करता। यह मुख्यतः हिन्दुस्तानी साहित्य की दीर्घकालीन गाथा की झलक को प्रस्तुत करता है। सरोज और तासी में एक और महान अंतर है। वह अंतर विचारधारा का है, निष्ठा का है। शिवसिंह की निष्ठा हिन्दी साहित्य में है। तासी की निष्ठा बंटी हुई है। उर्दू की तरफ उनका झुकाव अधिक है।

सर्वप्रथम तासी के इतिहासग्रथ में हिन्दी से ज्यादा उर्दू कवियों की रचनाएँ संकलित हैं। वहीं अन्य भारतीय भाषाओं के कवियों की रचनाओं को भी उन्होंने संकलित किया हैं। वहीं शिवसिंह ने केवल उन्हीं कवियों को अपने ग्रन्थ में स्थान दिया है जो हिन्दी और उसकी उपभाषाओं में रचना कर रहे थे। शिवसिंह ने बहुत से राजे-

महाराजों की रचनाओं का संकलन किया है। वहीं तासी के ग्रन्थ में यह प्रवृत्ति नहीं दिखाई देती।

तासी के ग्रथ में साहित्य के साथ-साथ आदि अनेक विषयों के ग्रन्थ भी शामिल हैं। जैसे विज्ञान, भूगोल, अर्थशास्त्र, आदि-आदि। किन्तु सरोजकार में यह प्रवृत्ति नहीं दिखाई देती। क्योंकि शिवसिंह के पहले खंड में कविताओं का संकलन है फिर दूसरे खंड में रचनाकारों के जीवन-चरित्र दिए हुए हैं। तासी ने अपने ग्रन्थ में बहुत से संपादकों का भी संकलन किया है। साथ ही उन्होंने पाठ्यपुस्तक लेखकों को भी भरपूर स्थान दिया है। इसका कारण सिर्फ यही नजर आता है कि तासी का उद्देश्य बस विदेशी पाठकों को भारतीय ज्ञान से अवगत कराना था न कि एक मुकम्मल इतिहास-ग्रन्थ लिखना। और उनसे पहले भी कोई इतिहासग्रन्थ नहीं लिखा गया था तो उन्हें कोई दिशानिर्देश भी मिल नहीं पाया था।

5.2. प्रस्तावित इतिहास ग्रंथों के लेखकों की इतिहास दृष्टि

हिन्दी साहित्य के इतिहास का पहला प्रयास गार्सा द तासी द्वारा होता है। फ्रेंच भाषा में लिखे गए, साहित्य के इतिहास में फ्रेंच भाषा और साहित्य की इतिहास दृष्टि साफ़ तौर पर दिखाई देती है। 'फ्रेंच वैदुष्य' एवं उपनिवेश बनाए जाने वाले देश को परिभाषित करने की दृष्टि तासी के इतिहासग्रन्थ का व्यापक आधार है। इस ग्रन्थ में हिंदी के आलावा उर्दू के कुछ कवियों का जिक्र भी हो गया है। यहाँ तक कि भारत की अन्य भाषाओं के रचनाकारों को भी उन्होंने इसमें समेट लिया है।

"एक बार जब उपनिवेशवाद, अपने आप को राज्य या राज्य की रूणावस्था, के रूप में स्थापित कर लेता है, तो उसके सामने पक्ष में वर्चस्व केंद्रित विमर्श रचना की समस्या खड़ी होती है।"[7] तासी के इतिहासलेखन का प्रयास वास्तव में उपनिवेशवादी राज्य के वर्चस्व के विमर्श के समीकरणों का ही परिणाम है।

तासी ने हिन्दुई उस हिंदी को कहा था, जिसे हिंदू बोलते थे और 'हिन्दुस्तानी' से उनका अभिप्राय उस हिंदी से था जिसे मुसलमान बोलते थे। जिसे उत्तरी भारत में उर्दू और दक्षिणी भारत में दक्खिनी कहा जाता था। उर्दू के प्रोफेसर होने के नाते तासी का झुकाव स्वाभाविक रूप से उर्दू के कवियों के साथ था। इसी कारण उन्होंने अपने ग्रन्थ में अधिक उर्दू के कवियों को स्थान दिया। तासी के इस ग्रन्थ के प्रथम संस्करण में 738 कवि और रचनाकार थे जिसमें हिंदी के मात्र 72 कवि थे।

उन्होंने अपना ग्रन्थ महारानी विक्टोरिया को समर्पित किया है और उनकी भारत में शासन की भूरि भूरि प्रशंसा भी करते हैं। वहीं सर जार्ज ग्रियर्सन विक्टोरिया की बजाए उन व्यक्तियों को धन्यवाद करते हैं जिन्होंने उनके ग्रन्थ को बनाने में सहायता की है। इसके अलावा ग्रियर्सन ने उन सभी ग्रंथों के लेखकों का आभार माना है जिसकी सहायता से उन्होंने यह ग्रन्थ लिखा है। वहीं शिवसिंह अपने ग्रन्थ में आत्मपरिचय देते हुए स्वयं को 'महारानी' के चाकर और 'शिवदानी' के किंकर कहते हैं। अपने आप को 'चंदभाल'(गोला गोकर्णनाथ में शिवसिंह द्वारा बनवाए गए शिवालय में स्थापित शिव मूर्ति का नाम) के कवि मानते हैं। यहाँ भारतेन्दुकालीन राष्ट्रभक्ति और राजभक्ति के द्वंद्व का मुहावरा इतिहास में भी स्पष्ट दिखाई देता है। मिश्रबंधु ग्रियर्सन द्वारा प्रदर्शित पथ पर आगे चलते हुए उसने भी ज्यादा कृतज्ञ हो गए हैं। सभा की रिपोर्टों का पूरा प्रयोग उन्होंने किया है। उन सभी विद्वानों के प्रति, जिनकी सहायता से उन्होंने ग्रन्थ तैयार किया, आभार व्यक्त किया है।

तासी के ग्रन्थ में जहाँ प्राच्यवादी दृष्टि साफ़ दिखाई देती है वहीं सरोजकार में राष्ट्रवादी दृष्टि मुख्य रूप से दिखाई देती है। जहाँ तासी ने अपने ग्रन्थ की भूमिका में इंग्लैंड की महारानी विक्टोरिया को ग्रन्थ समर्पित किया है वहीं शिवसिंह अपने ग्रन्थ की भूमिका में भारतीय साहित्य के महान रचनाकारों एवं उनके महत्व का रेखांकन किया है। संस्कृत की समृद्ध परंपरा का उल्लेख करते हुए उन्होंने संस्कृत के साहित्य को भी उद्धृत किया है। तासी ने विक्टोरिया के शासन को भारत का समृद्ध युग स्वीकार किया है। वहीं शिवसिंह ने संस्कृत साहित्य को और प्राचीन युग का गुणगान बहुत सी जगहों पर किया है। मिश्रबधुओं ने इसी को विस्तार दिया।

तासी, ग्रियर्सन और शिवसिंह, मिश्रबंधुओं के प्रयोजन में एक बहुत बड़ा अंतर यह भी है कि उनका पाठक वर्ग पूर्णतः भिन्न है। तासी का उद्देश्य यूरोपीय पाठकों को हिन्दुस्तानी साहित्य का ज्ञान करवाना था। ग्रियर्सन का उद्देश्य हिन्दुस्तानी का कालक्रम इतिहास लिखना था वहीं शिवसिंह का उद्देश्य भारतीय पाठक-वर्ग ही रहा होगा। और मिश्रबंधुओं का उद्देश्य पुनरुत्थानवादी चेतना से अनुप्राणित था।

यही कारण है कि तासी भिन्न-भिन्न स्थानों पर यूरोपीय लेखकों से हिन्दुस्तानी कवियों की तुलना करते हुए नजर आते हैं। वहीं शिवसिंह में ऐसी कोई पद्धति नहीं नजर आती है। कहीं-कहीं उन्होंने संस्कृत के आचार्यों से केशवदास, देव आदि की तुलना की है। ज्यादातर वे तुलनात्मक पद्धति से दूर ही रहे हैं। ग्रियर्सन ने भारत के साहित्य पर पश्चिमी प्रभाव को दिखाने की पूरी चेष्टा की है। यहाँ तक कि उन्होंने मध्यकालीन प्रवृत्तियां भी पश्चिम से प्रभावित बता दी हैं। मिश्रबंधुओं ने विनोद लिखकर ग्रियर्सन को उन्हीं की भाषा में जवाब दिया। भारतीय प्राचीन संस्कृत साहित्य को श्रेष्ठ मानते हुए उन्हीं मानदंडों पर वर्तमान साहित्य समीक्षा की पद्धति अपनाई।

तासी के इतिहासग्रन्थ के आधार ग्रन्थ मुख्यतः विदेशी विद्वानों के संकलन रहे हैं वहीं शिवसिंह ने केवल भारतीय ग्रथों के आधार पर ही अपना इतिहास-ग्रन्थ लिखा है। ग्रियर्सन ने देसी, विदेशी सभी तरह के साहित्य का अपने ग्रन्थ में निचोड़ प्रस्तुत किया है। मिश्रबंधुओं ने उस समय उपलब्ध हर प्रकार की सामग्री का प्रयोग किया है, जिसका संकलन सभा ने किया था।

जिस समय शिवसिंह अपने ग्रन्थ का प्रणयन कर रहे थे, यह समय औपनिवेशिक राज के बौद्धिक उपक्रम एवं प्रबुद्ध भारतीयों के अपने प्रयास, इतिहास के क्षेत्र में एक नयी दिशा को प्रस्तावित कर रहे थे। यह समय भारत के इतिहास और समाज में अद्वितीय महत्व रखता है। भले ही शिवसिंह तासी के इतिहास लेखन के ग्रन्थ से परिचित ना हों किन्तु उनका ग्रन्थ पूरी तरह से अपने समय-समाज की ऐतिहासिक चेतना का

प्रतिफल ही ठहरता है। शिष्ट भारतीय समाज उस समय पराधीनता का जैसा अनुभव कर रहा था वह अभूतपूर्व है। भारतेंदु अपनी कविताओं में पूछते हैं- ' होय मनुष्य ही क्यों भये हम गुलाम ते भूप'? सिर्फ सवाल ही नहीं पूछे गए अपितु इसके उत्तर भी दिए गए। शिवसिंह ने भी अपने ग्रथ के माध्यम से उत्तर देने का प्रयास किया।

यदि नवजागरण काल पर ध्यान दें तो यह स्पष्ट है कि "आत्मबोध तथा देश-दशा की व्याख्या करने के लिए इस नए मध्य-वर्ग के पास एक ओर औपनिवेशिक मुहावरा था दूसरी ओर पारंपरिक। नवजागरण की संवेदना में ये दोनों मुहावरे सक्रिय थे और इनके द्वंद्वात्मक सम्बन्ध से तीसरे मुहावरे का भी विकास हुआ । इस तीसरे मुहावरे में एक ओर परंपरा के कोण से 'स्वत्व निज भारत गहै' की चिंता थी तो दूसरी ओर स्वत्व और परम्परा का बोध उपनिवेशिक मुहावरे में गढा जा रहा था।"[8] स्वत्व तथा परंपराबोध के इसी औपनिवेशिक प्रतिरूप को आशीष नंदी 'डबल या प्रतिरूप'[9] की संज्ञा देते हैं। यह प्रतिरूप जितना सक्रिय तथा सचेत हिन्दी क्षेत्र में था उतना ही बंगाल, बंगला क्षेत्र में भी। वस्तुतः इस नवीन मध्यवर्ग ने परम्पराओं, अधिग्रहण, परिष्कार तथा क्लासिकीकरण के माध्यम से राष्ट्रीय धार्मिक संवाद की प्रक्रिया प्रारंभ की और आत्मसमीक्षा में प्रवृत्त हुई।

तासी और शिवसिंह के इतिहासग्रंथों में साहित्य के इतिहासलेखन की विभिन्न समस्याएं सामने आती हैं। काल-विभाजन, नामकरण एवं प्रवृत्ति निरूपण का कोई प्रयास इन ग्रंथों में नहीं किया गया। जो कि इतिहास के अनिवार्य पहलु होते हैं। विभिन्न व्यावहारिक कारणों से यह संभव नहीं हो सका। हिन्दी के सैकड़ों वर्षों के इतिहास को बिना किसी दिशा निर्देश के एक मुकम्मल इतिहास का रूप पहनाना सम्भव नहीं था। वो भी जब साहित्यकारों का संग्रह भी नहीं हुआ था। यही कारण है कि इतिहासलेखन से पूर्व कवि-वृत्त संग्रह की आवश्यकता बड़ी शिद्दत से महसूस की गयी। इन इतिहासलेखकों को यह स्पष्ट था कि उनकी व्यावहारिक कठिनाइयाँ भविष्य के लिए इतिहासलेखन की दिशा को प्रशस्त करने में मील का पत्थर प्रमाणित

होंगी। उसी के परिणाम थे ये शुरूआती संकलन। उपयुक्त के अलावा इतिहासलेखन के लिए चयन, व्याख्या, श्रेणीकरण, एवं पुनर्निर्माण के सहारे सामान्यीकरण जैसे तत्व महत्वपूर्ण होते हैं। जिसका पूर्णतः आभाव इन ग्रंथों में दिखाई देता है। इसी की अगली कड़ी के रूप में ग्रियर्सन ने परंपरा को आगे बढ़ाया जिसकी तासी और शिवसिंह की अपेक्षा थी। वहीं मिश्रबंधुओं ने तो परम्परा की प्रत्याशा में भारी वृद्धि की।

'द माडर्न वेर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ नॉर्दन हिन्दुस्तान' हिन्दी साहित्य का पहला इतिहास है जो आधुनिक अर्थों में इतिहासलेखन की पद्धति का अनुसरण करता है। हाँलाकि लेखक ने अपने ग्रन्थ को इतिहास कहने का जोखिम नहीं उठाया है। इतिहासलेखन में मोटे तौर पर जिस पद्धति का प्रयोग किया जाता है वह है- 'विधेयवाद'। ग्रियर्सन ने अपने इतिहासग्रन्थ में इसी पद्धति को अपनाने का सर्वप्रथम प्रयास किया है। ध्यातव्य है कि ग्रियर्सन एक ऐसे राज्य के प्रतिनिधि के तौर पर हिंदी साहित्य के इतिहास के अनुकर्ता थे जिसने हिंदी जाति पर अपनी सत्ता कायम की हुई थी। ग्रियर्सन की इतिहासदृष्टि भी इसी अनुशंसा से प्रभावित थी। एक गुलाम जाति के साहित्य को परिभाषित करने की कोशिश उनके इतिहासग्रन्थ में सामान्य तौर पर देखी जा सकती है। यह इतिहास दृष्टि मुख्य रूप से ग्रियर्सन की प्राच्यवादी मानसिकता की ओर संकेत करती है।

ग्रियर्सन की दृष्टि बहुत विस्तृत है। वे अतीत, वर्तमान और भविष्य पर स्पष्ट रूप से नजर रखे हुए हैं। वे एक साहित्यकार होने के साथ ही भारत में प्रशासक के तौर पर आए थे और यहाँ उनकी एक प्रशासक की स्पष्ट दृष्टि साफ़ नजर आती है। जो अपनी वाणी को संयमित कर अपने ग्रन्थ के ऐतिहासिक महत्व को भी रेखांकित करता है और वो भी अपनी ही कमियों को सामने रख कर।

आगे मिश्रबंधुओं ने परंपरा का अवगाहन करते हुए हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखा। मिश्रबंधुओं द्वारा विरचित 'मिश्रबंधु-विनोद' है। इस ग्रन्थ में लगभग 5000(4591) कवियों के उदाहरण के साथ ही इतिहासलेखन के सभी पहलुओं के

निर्वाह का प्रयास किया गया है। मिश्रबंधु विनोद में जो सबसे बड़ी बात दिखाई देती है वह है स्वयं को उस राज्य-सत्ता से श्रेष्ठ रेखांकित करने का प्रयास जिसने उसे एक पूर्वनिर्धारित दृष्टि से परिभाषित किया है अर्थात स्वयं की अस्मिता को परिभाषित करने की अथक चाह। कहना न होगा कि आत्मरेखांकन का यह प्रयास औपनिवेशिक सत्ता के विरुद्ध होते हुए भी उसी से अनुप्राणित भी था। जाहिर है इस प्रयास में वे अतिश्लघा से मुक्त नहीं हो पाए अपितु अपने उद्देश्य के विरुद्ध कहीं-कहीं वे ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति राजभक्ति के संस्कार से भी मुक्त न हो सके। रचनाकारों में इस मानसिक उलझाव को भी देखा गया है।

मिश्रबंधु के रचनाकाल को देखें तो यह वह समय था जब हिंदी साहित्य में सांस्कृतिक-पुनरुत्थानवाद की लहर सर्वत्र दिखाई देती है। 'हम क्या थे? क्या हो गए और अब क्या होंगे?' की चेतना से मिश्रबंधु विनोद भी तटस्थ नहीं था। हिंदी जाति के लगभग साढ़े चार हजार कवियों की सूची को इतिहासग्रन्थ में शामिल करना इसी दृष्टि का परिचायक है। उन्होंने ब्रिटिश सत्ता की बन्दूक के आगे हिंदी जाति की कलम की ताकत को रखा। उनका मानना था और किसी चीज में भारत श्रेष्ठ हो न हो पर भारतीय साहित्य अवश्य ही सम्पूर्ण जगत में सर्वश्रेष्ठ कोटि का है। इस प्रक्रिया में मिश्रबंधुओं के इतिहास में आध्यात्मिकता का यथार्थ से ज्यादा समावेश हो गया है। अपनी इतिहासदृष्टि के कारण मिश्रबंधु एक मानक इतिहासग्रंथ का निर्माण न कर सके एवं इतिहासलेखन के लिए जिस मूल्यांकन क्षमता और सामाजिक-सांस्कृतिक आधारों की खोज की आवश्यकता होती है उसकी भी कमी हमें इस ग्रन्थ में दिखाई देती है।

पार्थ चैटर्जी उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद के अंतःसंबंधों की संश्लिष्टता को उद्घाटित करते हुए लिखते हैं –"उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रवाद ने औपनिवेशिक समाज के भीतर ही अपनी सम्प्रभुता का क्षेत्र तैयार किया था। यह सामाजिक संस्थाओं की दुनिया बाँटकर भौतिक तथा आध्यात्मिक दो अलग अलग क्षेत्रों से जुड़े व्यवहार के कारण सम्भव हुआ। भौतिक क्षेत्र में आर्थिक तथा वैज्ञानिक तत्व आते हैं जहाँ पश्चिम ने अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित की। दूसरी तरफ आध्यात्मिक क्षेत्र सांस्कृतिक अस्मिता से

नालबद्ध था, जहाँ प्रतिरोध का स्वर तीव्र था। यह सूत्र हमारी समझ से एशिया, अफ्रीका के उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रवाद की बुनियादी विशेषता है।"[10] इस प्रकार हम देखते हैं कि पार्थ चटर्जी की दो श्रेणियाँ हमारे सामने प्रस्तुत हैं एक 'आन्तरिक वृत्त' तथा दूसरी 'बाह्य वृत्त'। उनका मत है कि बाह्य क्षेत्र में औपनिवेशिक हस्तक्षेप स्वीकार था किन्तु आंतरिक क्षेत्र में जो संस्कृति का मूल प्रश्न लिए हुए था हस्तक्षेप असह्य था। बेंडिक्ट एडर्सन ने अपनी पुस्तक इमेजिंड कम्युनिटी में राष्ट्रवाद को एक सांस्कृतिक खोज कहा है। वे राष्ट्र को एक काल्पनिक-राजनीतिक समुदाय में परिभाषित करते हुए कहते हैं कि "राष्ट्र सृजन का वास्तविक संचालन जनसंचार के माध्यम से होता है। इसमें सबसे अहम् भूमिका प्रिंट पूंजीवाद के उदय ने अदा की, जिसने छपाई की नई तकनीक को पूंजीवादी उत्पादन के साथ मिले और देशी भाषाओं में किताबों और अखबारों के व्यापक प्रसार के जरिए पढ़ने वाले एक विशाल जनसमूह का निर्माण किया। इस तरह प्रिंट पूँजीवाद और उनके प्रबंधक भाषिक राष्ट्र के नए समाजशास्त्री समुदाय को परिभाषित करने लगे। जिस काम को उन्होंने सबसे पहले अमेरिका में और बाद में यूरोप, एशिया और अफ्रीका में अंजाम दिया।"[11] वास्तव में हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परंपरा में ये ग्रन्थ एक विशेष युग की उपज ही तो दर्शाते हैं। तासी प्राच्यविद्या संस्थान का प्रतिनिधित्व करने वाले विद्वान थे और शिवसिंह भारत की परंपरा को प्रतिष्ठापित करने की योजना बनाने वाले विद्वान। वहीं ग्रियर्सन ने भी प्राच्यवादी दृष्टि को और पुष्पित–पल्लवित किया और मिश्रबंधुओं ने राष्ट्रवाद को विस्तार दिया। तासी की दृष्टि का चरमोत्कर्ष ग्रियर्सन के इतिहास में पहुँचता है तो शिवसिंह की दृष्टि का चरमोत्कर्ष मिश्रबंधुओं में। तासी और ग्रियर्सन का ग्रन्थ जहाँ प्राच्यवादी संस्कृति के स्पष्ट चरणों को प्रतिबिंबित करता है वहाँ शिवसिंह और मिश्रबंधुओं का ग्रन्थ राष्ट्रवाद के दो स्पष्ट चरणों को।

हिन्दी नवजागरण ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया से उपजा अंतर्विरोधों का समय था। हिन्दी नवजागरण अपने प्रारूप और स्वरूप दोनों के ही सन्दर्भ में बहुवचनात्मक और बहुध्रुवीय था। यहाँ आरंभिक पूँजीवाद की दस्तक भी थी। उभरते हुए राष्ट्रवाद

की गूंज भी थी और आकार लेती साम्प्रदायिकता की झलक भी । यही वह समय काल था जब सामाजिक, धर्मिक सुधार के साथ भाषा जातीयता, राष्ट्रीयता और संस्कृति आदि को लेकर एक चेतना का निर्माण हिन्दी क्षेत्र में हो रहा था। संक्षेप में कहें तो नवजागरण कालीन मुहावरे सामजिक जीवन के विविध आयामों में सक्रिय हस्तक्षेप कर रहे थे। संक्रमण का यह काल पाश्चात्य जगत के अनुभवों एवं भारतीय संस्कृति के द्वंद्वात्मक समुच्चय से निर्मित हो रहा था।

वस्तुतः बंगाल से नवजागरण की जो प्रक्रिया प्रारंभ हुई उसका विकास हिंदू पुनरुत्थानवाद, भद्रवर्गीय हितों में संघर्ष तथा धार्मिक ध्रुवीकरण के पक्ष में एक सहज बोध के विकास के रूप में हुआ। लेकिन यह हिन्दी नवजागरण का एकध्रुवीय पक्ष था। उसके अन्य ध्रुवों पर औपनिवेशिक शासन का विरोध, जातीय बोध, स्वत्व बोध, हिंदू मुस्लिम एकता, सामाजिक धर्मिक सुधार स्त्री-चेतना तथा शिक्षा के प्रति जागरूकता जैसे मुहावरे भी सक्रिय थे। अतः जटिल अंतर्विरोधों के बाद भी इस तथ्य को अनदेखा नहीं किया जा सकता कि हिन्दी नवजागरण ने भी एक ऐसी आधुनिक राष्ट्रीय सांस्कृतिक गढ़ने की कोशिश अवश्य की जिसमें राजनीतिक, सामाजिक आर्थिक तथा अंततः सांस्कृतिक क्षेत्रों के सुधारवादी तत्व उपस्थित थे।

इन सुधारवादी तत्वों ने जिस राष्ट्रवाद की संकल्पना को आकार दिया वह पश्चिम का राष्ट्रवाद नहीं था। “भारत में राष्ट्रवाद मूलतः पश्चिम से भिन्न था। मगर उसमें व्युत्पन्न संवाद था जिसका विकास तीन सुस्पष्ट चरणों में हुआ। ‘प्रस्थान का क्षण’ जब राष्ट्रवादी चेतना का निर्माण प्रबोध पश्चात बुद्धिवादी जीवन के वर्चस्वकारी प्रभाव के द्वारा हुआ। जोड़ –तोड़ का क्षण । जब इसके समर्थन में जनता को लामबंद किया गया। और आगमण का क्षण जब यह व्यवस्था का संवाद और शक्ति का बुद्धिसंगत गठन बन गया।”[12] राष्ट्रवाद तथा जनक्षेत्र के निर्माण के इन्हीं विकासात्मक तथा संक्रमण कालीन चरणों के बीच भाषाई अलगाववाद धार्मिक ध्रुवीकरण तथा साम्प्रदायिकता की अभिव्यक्ति होती है। यह अभिव्यक्ति ही वृहद रूप में नवजागरण की अवधारणा को अंतर्विरोध से ग्रसित कर लेती है और अंततः नवजागरण की

अवधारणा प्रश्न पर चिन्ह लगाती है। वसुधा डालमिया की 'द्विसांस्कृतिकता की अवधारणा'[13] तथा सुधीर चन्द्र के 'द्विराष्ट्र की प्रक्रिया' का केन्द बिंदु भी नवजागरण का यही दौर है।

हिन्दी साहित्य और इतिहास लेखन में उपस्थित धार्मिक साम्प्रदायिक स्मृतियों में हिन्दुओं को मुस्लिमों से पूर्णतय पृथक एक सुसंगठित समुदाय के रूप में देखा गया। हिन्दुओं और मुसलमानों के मध्य अलगाव की भावना को मजबूत करने में उस समय के भिन्न ऐतिहासिक समीकरणों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इतिहास के माध्यम से एक विशिष्ट प्रकार के इतिहासबोध के निर्माण कि प्रक्रिया शुरू हुई। जिसमें मुसलमान काल के साहित्य और समाज की पतनोन्मुख छवि गढ़ी गयी। और हिन्दुओं के मत में आम मुसलमान के प्रति शंका और संदेह को जगाकर उन्हें प्रेरित किया कि वे इन रूढ़ छवियों के आधार पर मुसलमाओं का मूल्यांकन करें। इन छवियों को सार्वभौमिक सत्य समझें। साहित्यिक यह स्पष्ट रूप में समझ लेना चाहिए कि इस समय का इतिहासलेखन ऐतिहासिक विश्लेषण अथवा निर्णय शामिल नहीं था। वह पूरी तरह एक राजनैतिक मुद्दे राजनैतिक कारण या पूँजीवाद का मुद्दा था। यह केवल मान्यता, उपयोगिता तथा चुनाव के सामाजिक-राजनैतिक औचित्य का प्रश्न था। इसका ऐतिहासिक साक्ष्य भूमिका या विश्लेषण से कोई सम्बन्ध नहीं था। एक सजग स्वप्न के अंतर्गत इतिहास का निर्माण किया गया, जिसे आधुनिक राजनीति में भूमिका निभानी थी। इसका अर्थ यह हुआ कि उनकी राजनैतिक उपयोगिता अथवा वैधयता का इसी दृष्टिकोण से सर्वेक्षण किया जाना चाहिए, न कि इतिहास की स्थापित मान्यताओं के आधर पर।

5. 3. हिन्दी साहित्य का नया इतिहास : एक विवेचन

किसी भी जाति के साहित्य का इतिहास कब और क्यों जरूरी हो जाता है? विश्व भर के साहित्य के इतिहासों के लेखन की प्रक्रिया के क्या आधार हो सकते हैं? हिन्दी

साहित्य के इतिहास लेखन की परंपरा की प्रक्रिया के पीछे के कारण क्या थे? ये प्रश्न सदा ही प्रासंगिक प्रश्नों के श्रेणी में विचार की संभावना रखते हैं।

विश्व के साहित्य के इतिहास को छोड़ दें तो हमारे विश्लेषण के केंद्र में है –हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन के प्रारंभिक प्रयास। आखिर कौन से कारण थे हमारे साहित्य के इतिहास को विदेशी विचारकों ने, विदेशी लेखकों ने विचार करने लायक समझा। हम सभी जानते हैं कि जब एशियाटिक सोसायटी की स्थापना हुई और इसकी स्थापना के क्रम में भारत में लिखे जाने वाले साहित्य की जरुरत ब्रिटेन के लोगों ने समझी। सर विलियम जोन्स का जो प्रयास था उस से हम सभी परिचित हैं। उन्होंने 17 साल के प्रयास के बाद संस्कृत सीखी और तब कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तलम का अनुवाद किया। एशियाटिक सोसायटी की जो चिंता थी उसमें संस्कृत साहित्य केन्द्र में था और भारतीय भाषाओं के बारे में उनकी जो राय थी उसके बारे विस्तार से जानने की आवश्यकता नहीं हैं। भारतीय साहित्य और विशेष रूप से हिन्दी साहित्य पर विचार जो हुए वे भी उन्हीं लोगों द्वारा हुए जिन लोगों का भारत में उपनिवेश था। जैसे गार्सा द तासी और सर जार्ज ग्रियर्सन । इन लोगों ने कम से कम ये पहल की कि संस्कृत के अलावा भी जो भारतीय भाषाएँ हैं उनके इतिहास पर, उनके साहित्य पर विचार होना चाहिए। उनके विचार और इतिहास बोध से हम भले ही असहमत हों... लेकिन उनके ऐतिहासिक प्रयास को हम कभी भूल नहीं सकते कि उन्होंने उस दौर में जब बाकी ब्रिटिश चिंतन संस्कृत से आगे बढ़ने को तैयार नहीं था तब उन्होंने अन्य भारतीय भाषाओं के महत्व को स्वीकार किया। हिंदी और समग्र रूप से भारत पर एक तरह से यह आरोप था कि हम अपने इतिहास से लगभग बेखबर रहते हैं। इतिहास के प्रति हमारी ये जो बेखबरी है वह किस कदर हमारे लिए घातक है और घटक हो सकती है इस पर भी हमें सोचने की जरुरत है। हम जिस विषय पर अभी विचार कर रहें हैं उसमें ये ध्यान रखना होगा कि उपनिवेशवाद से जब हम मुठभेड़ करने के लिए और उससे लड़ने के लिए तैयार भी नहीं हो रहे थे तभी हमारे इतिहास को तैयार करने की आवश्यकता उन लोगों ने समझी जिनके यहाँ पर उपनिवेश थे। उनकी दृष्टि जो थी, उनका जो आकलन जो था,

जैसा गार्सा द तासी का विचार था कि उनका जो कहना कि हिन्दी हिंदुओं की और हिन्दुस्तानी मुसलमानों की भाषा है या कि ग्रियर्सन ने ये माना कि भक्ति आंदोलन ईसाइयत का प्रभाव है। ये उनके दृष्टिकोण थे जिस तरह से वे देखना चाहते थे। निश्चित रूप से इतिहासलेखन में उपनिवेशवादी आकांक्षाएं छीपी हुई थी इनसे हम इंकार नहीं कर सकते। इसके बावजूद उनका जो महत्व है उस पर हम चर्चा कर चुके हैं कि कम से कम उन्होंने इस दिशा में हमें सोचने को बाध्य किया कि हमें अपने साहित्य का मूल्यांकन करना चाहिए। फिर बाद में हमने उस पर जो काम किया, जो प्रारंभिक इतिहास लेखन के प्रयास हैं। बाद में मुक्कमल रूप में शुक्ल जी ने जो एक आलोचना और इतिहास के एक समन्वित रूप को अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में रखा और तब हम वहाँ से आगे की एक यात्रा शुरू करते हैं इतिहास लेखन में । शुक्ल जी के इतिहास लेखन के बाद उस पर विस्तार से बात करने की जरुरत नहीं हैं लेकिन ये जरूर हमें सोचना चाहिए कि पिछले लगभग सौ वर्षों में जब हमनें अपने साहित्य का मूल्यांकन शुरू किया है तब हम कहाँ पहुंचे हैं और हमें कहाँ पहुंचना चाहिए? इतिहास की एक अवधारणा पर हम विचार करें तो हीगेल की वह बात याद आ रही है जिसका सम्बन्ध इतिहासदर्शन से था। जो उनकी किताब 1831 में प्रकाशित हुई थी- 'इतिहास दर्शन' , इस किताब में फायरबाख, कार्ल माक्स जैसे चिंतकों को बहुत दूर से प्रभावित किया था। उस दौर में जब दुनिया में अमेरिका की कोई पहचान नहीं थी। हीगेल ने उसके भविष्य को लेकर जो उम्मीद जताई वह इतिहास की शक्तियों को प्रभावित करने वाले कारकों पर विचार करने के लिए एक नया रास्त दिखाने वाली बात थी। परंपरा बोध और इतिहासबोध को लेकर जो लम्बे समय तक बहस चली उसमें भी यह बात मायने रखती है कि इतिहास की शक्तियाँ, परम्परा की शक्तियों से भिन्न होती हैं और यह भिन्नता भौतिक सच्चाई से जुड़ी होती है। अगर एक रूपक का संदर्भ लें तो परंपरा और इतिहास का सम्बन्ध लगभग आकाश और धरती जैसी है। परम्परावादियों ने इतिहास की जो व्याख्या की उस से हम परिचित हैं लेकिन हीगल के बाद, विशेष रूप से जब मार्क्स ने जब इतिहास को धरती पर लाने की बात की तब वहीं से इतिहास की अवधारणा बिलकुल बदल गयी। कार्ल मार्क्स ने जब ये कहा कि वे हीगेल को सीधे पाँव खड़ा करना चाहते हैं, तब

उनका एक आशय यह भी था कि वे इतिहास के विश्लेषण में ठोस आर्थिक जमीन की तलाश कर रहें हैं, न कि किसी भविष्यवाणी की। सन 1960 के आस पास ई. एच. कार ब्रिटेन में इतिहास क्या है? विषय पर जब विचार- विमर्श कर रहे थे, तब उनकी चिंता के दो छोर थे। पहला अंग्रेजी भाषी दुनिया और यूरोप का शक्तिकेंद्र और कंट्रोल टावर संयुक्त राज अमेरिका का हो जाना था, दूसरा, यूरोप और उत्तरी अमेरिका से बाहर मूलतः एशियाई देशों के इतिहास को महत्व नहीं देना था। उनका मानना था कि इतिहास केवल केन्द्र का ही नहीं होता, ऐसा इतिहास अधूरा होता है। उनके अनुसार इतिहासकार के लिए 'ऐसी जातियों और महाद्वीपों के दलों और वर्गों का उत्थान जो अभी तक उसके (दायरे से) बाहर थे' का सर्वाधिक महत्व होता है। जिस वर्ष ई. एच. कार की किताब आई थी उसी के साथ साथ अंग्रेजी में ग्राम्शी की किताब का प्रकाशन होता है जिसमें वे 'सबाल्टर्न' की बात करते हैं। लगभग वही बात ई. एच. कार भी करते हैं। लिखा उन्होंने कि जो इतिहास है वह इतिहास सिर्फ केन्द्र का इतिहास नहीं होगा बल्कि परिधि पर जो जातियां हैं , उन पर भी विचार होना चाहिए। हम बाकी विश्व के इतिहासलेखन को छोड़ दें और सिर्फ भारत के इतिहासलेखन पर विचार करें तो देखेंगे कि जितना हमारा इतिहासलेखन था, यदि हिन्दी साहित्य के इतिहासलेखन को छोड़ सामाजिक इतिहासलेखन को देखें तो डी डी कोसाम्बी के पहले का इतिहासलेखन कैसा है? उनके पहले का इतिहासलेखन क्या है? जिसके बारे में रोमिला थापर कहती हैं कि पहले का इतिहास लेखन प्रशासकों का इतिहास है। जिसमें मुख्यतः राजवंशों और साम्राज्यों के उत्थान और पतन का विवरण होता था। ऐसे इतिहास में राजा नायक थे और घटनाओं का विवरण उन्हीं से जुड़ा होता था। ई. एच. कार की मूल चिंता थी कि आधुनिक इतिहास के मूल में कौन हगा? आधुनिक इतिहास के सूत्र धार कौन होंगे? उनकी स्पष्ट धारणा थी कि 'आधुनिक इतिहास वहाँ से शुरू होता है, जहाँ से ज्यादा से ज्यादा लोग सामाजिक और राजनीतिक सचेतनता प्राप्त करने लगें। अपने अपने दलों की ऐतिहासिक ईकाई

के प्रति जिसका एक अतीत और एक भविष्य था, सजग होने लगें और इस प्रकार पूरी तौर से इतिहास में प्रविष्ट हुए ।... सिर्फ वर्तमान समय में हमारे लिए पहली बार एक ऐसी दुनिया की कल्पना करना सम्भव हुआ है जिसमें रहने वाले लोग इतिहास के अंग बन चुके हैं और अब वे केवल उपनिवेशी प्रशासन और मानवशास्त्री की चिंता के विषय नहीं रह गए, बल्कि इतिहासकार की चिंता के भी विषय बन चुके हैं। असल में इतिहास प्रभु वर्गों का न होकर आम जीवन का होना चाहिए , ये सोच विकसित हुई। आधुनिक इतिहासलेखन के क्षेत्र में ऐतिहासिक भौतिकवादी पद्धति ने वैज्ञानिक विधि का विकास किया। आधुनिक इतिहासकार अपने युग के साथ ही अपने मानवीय अस्तित्व की शर्तों से जुड़ा होने की अपनी प्राथमिकता को और अपने वर्तमान को अपने अतीत को वर्तमान की आँखों से देखने का प्रयास कर रहे थे। यहाँ पर हमें यह भी विचार करने की जरुरत है कि नया जो इतिहास लेखा होगा या होना चाहिए वो क्यों जरुरी है? एक प्रश्न यह भी खड़ा होता है कि साहित्य का इतिहासलेखन सिर्फ साहित्य का इतिहासलेखन है या अन्य किसी अनुशासन की उसमें जरुरत है? 'साहित्य के इतिहास का प्रयोजन दरसल साहित्य की प्रगति, परंपरा, निरंतरता और विकास की पहचान करना है।' इस क्रम में यह अपने समय के सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों के साथ साहित्य की समझ को विश्लेषण करने वाला होना चाहिए। परिवर्तित होती परिस्थितियों के साथ साहित्य के रूप और अंतर्वस्तु में भी परिवर्तन आता है। साहित्य के इतिहास में विचारणीय विषय एक और परिवर्तन और निरंतरता का सम्बन्ध भी है। समाज का इतिहास साहित्य के लिए सर्वाधिक आवश्यक है। समाज और साहित्य का निकट का सम्बन्ध होता है और कई बार यह सम्बन्ध द्वंद्वात्मक संबंध भी होता है। कई बार समाज के इतिहास के विभिन्न पक्षों के विश्लेषण के बिना किसी साहित्य या युग की प्रवृत्ति के बारे में गलत अवधारणा निर्मित की जा सकती है। इतिहास को बिना जाने या समझे इतिहास के विकास और परिवर्तन को समझना मुश्किल सिद्ध हो सकता है। समाज का इतिहास कई बार मुख्यधारा में नहीं मिलता और इतिहासकार को साहित्य की शरण लेनी पड़ती है। साहित्य के माध्यम से वह कुछ सूत्र ग्रहण करता है, जिससे वह उस समय

के आम जनों के रीति- रिवाजों और दशा को समझ पाता है इसीलिए कई अर्थों में साहित्य का इतिहास समाज का इतिहास होता है। क्योंकि साहित्य का प्रथम स्रोत और अंतिम लक्ष्य मनुष्य ही होता है। ई. एच. कार जब इतिहासलेखन के विषय और विषयी पर अपना विचार रख रहे थे, उसी के आस-पास हिन्दी में इतिहासलेखन को लेकर एक नया विचार चल रहा था। 1965 में शिवदान सिंह चौहान ने आलोचना के चार अंकों में स्वातंत्रोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखवाने का आयोजन किया। पहले अंक में सम्पादकीय में उन्होंने स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के पन्द्रह-सोलह वर्षों को नेहरु युग कहा। नेहरु युग कहने पर ही 'एक व्यक्ति एक युग' की धारणा के आधार पर जो नायकोन्मुख इतिहासदृष्टि दिखाई देती है वह स्वातंत्रयोत्तर युग की जटिलता का सरलीकरण है। इसकी भरपूर आलोचना भी हुई । इसे विक्टोरियन युग की तर्ज पर रखा गया नामकरण बताया गया। इससे पहले साहित्यिक प्रवृत्तियां या साहित्यकार के आधार पर किया गया नामकरण सम्बन्धित युग की साहित्यिक प्रवृत्तियों की विशेषताओं को कम से कम कम या ज्यादा प्रदर्शित करता था किन्तु नेहरु युग हिन्दी साहित्य की किसी भी प्रवृत्ति को व्यक्त करने में असमर्थ था। नामवर सिंह ने 1973 में आजादी के बाद सन. 1950 के दशक को हिन्दी साहित्य की दृष्टि से 'नव- रोमांटिक उत्थान का दौर' और साठ के दशक को 'मोहभंग का दौर' बताया। जबकि मैनेजर पाण्डेय ने उस दौर में स्वातन्त्र्योत्तर राज सत्ता के दमन और प्रतिरोध के मुहावरे में स्वातंत्र्योत्तर साहित्य की प्रवृत्तियों की पहचान की। समय समय पर नए साहित्येतिहास लेखन की जरुरत पर गहन विचार विमर्श हुआ। शिवदान सिंह चौहान, नामवर सिंह, बच्चन सिंह, रामस्वरूप चतुर्वेदी, लक्ष्मीकांत वर्मा, सुमन राजे ने अपने अपने ढंग से हिन्दी साहित्य के इतिहासलेखन की कोशिश की। इसके अलावा रामविलास शर्मा ने जितने काम किए उन सबको मिलाकर देखें तो हिन्दी साहित्य का एक बहुत बड़ा हिस्सा उनके साहित्य में शामिल है। हमारा जो आज का समय है वो थोड़ा जटिल है। स्वतंत्रता के बाद से ही ग्राम प्रांत की जो दुनिया थी उसका लगभग अंत हो जाता है। हिन्दी साहित्य और विश्व के अन्य साहित्य के बीच की दूरी कम होने लगती है। आज स्वतंत्रता प्राप्ति के दशकों बाद शीत युद्ध के अंत के बाद

अमेरिकी नव साम्राज्यवाद के दौर में भूमंडलीकरण, निजीकरण, उदारीकरण की जो आंधी चल रही है ... ऐसे में आज के इतिहासकारों के पास चुनौती यह है कि बहसों की अंतर्दृष्टि को बदलते हुए परिदृश्य में अपनी ऐतिहासिक दृष्टि से कैसे जोड़ेंगे? उदाहरण के तौर पर आज हिन्दी में जो शोध हो रहे हैं उनमें भूमंडलीकरण, उदारीकरण और कर इक्कीसवीं सदी में उनका कविता पर क्या प्रभाव है? इनपर कई शोध हुए हैं और हो रहे हैं। भूमंडलीकरण, उदारीकरण ... ये सारे शब्द जो हैं इन शब्दों के भेद को समझना चाहिए। ऊपर से तो लगता है कि ये शब्द बहुत उदार हैं। लेकिन इस शब्दों के पीछे की जो राजनीति है उस जाल से हिन्दी के शोधार्थियों को बचना चाहिए। ये शब्द जो कई बार हमें भ्रमित करते हैं और उदार जैसे लगते हैं उनके भीतर छिपी हिंसा और अनुदारता को भी हमें देखना चाहिए। इन परिस्थितियों में शब्दों का जो जाल है और जो जादू है .. इसमें कई बार हम समझ नहीं पाते कि हम कैसे मूल्यांकन करें अपने समय के साहित्य का और समाज का मूल्यांकन कैसे करें? आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने जब आधुनिक साहित्य के मानदंड और प्रतिमान की बात की थी तब उन्होंने कहा था कि किसी भी सभ्य समाज के साहित्य में ऐसा नहीं होता कि जीवन की दिशा कुछ और हो और साहित्य की दिशा कुछ और ही हो। भारतेंदु युग को उन्होंने इसीलिए महत्व दिया कि भारतेंदु ने अपने नाटकों के माध्यम से अपनी पत्रकारिता के माध्यम से जीवन की दशा और दिशा के साथ साहित्य की दशा और दिशा को जोड़ दिया। अपने समय की दशा और दिशा के साथ साहित्य का जो लगाव है और जुड़ाव है यह प्रतिमान बहुत महत्वपूर्ण है। जब आलोचक को या इतिहासकार को अगर यह स्पष्ट नहीं होगा कि उसके समय की दिशा क्या है? और साहित्य की दिशा क्या है? पहले तो यह तय करना है कि वह समय की दिशा को समझे, समय की दशा को समझे फिर साहित्य की दशा और दिशा को समझे और दोनों के बीच संबंधों की पड़ताल करे और यह पता करे कि दोनों के बीच का जो संबंध है वो कैसा है? नए इतिहासलेखन के सन्दर्भ में पुराने इतिहासलेखन की उपेक्षा करके नहीं बल्कि उनकी जो समझ है उनका हमें उपयोग

करना चाहिए। राजनीति, संस्कृति, अर्थतंत्र से जो सम्बन्ध है आज समाज का, वह पहले से ज्यादा मजबूत हुआ है।

इतिहास में आलोचना सदा ही केन्द्र की होती है। जैसे "आधुनिक हिन्दी साहित्य में १८५७ -१९४७ तक का केन्द्रीय प्रश्न मुक्ति का प्रश्न है। यद्यपि समकालीन सवालों में केन्द्र टूट रहा है। पर पहले केन्द्र की ही चर्चा होती थी। इसलिए आधुनिक काल के इतिहास के केन्द्रीय चेतना को पकड़ने की कोशिश की जानी चाहिए। जब 1857 में पहला विद्रोह हुआ और 1947 में देश आजाद हुआ था तो इस गुलामी और आजादी के बीच का केन्द्रीय सवाल था- मुक्ति का सवाल। लोग गुलामी से मुक्त होना चाहते थे इसलिए सभी के लेखन में मुक्ति प्रमुख स्वर था।" साथ ही साहित्य ने उपेक्षित जनसमुदाय का, जनसंघर्ष, साम्राज्यवाद विरोधी चेतना, आदि भी कुछ स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त हुई है। ऐसा करते हुए वो स्वयं को पूर्ववर्ती परंपरा से जोड़ता और उसकी पुनर्परीक्षा करता है। इसीलिए मुक्तिबोध की यह बात याद आती है जो उन्होंने सभ्यता समीक्षा कहा है। साहित्य समीक्षा की यह समझ नए इतिहासलेखन के लिए बेहद आवश्यक है और ये एकमुखी दृष्टिकोण है। साहित्य का इतिहास साहित्य के विकास की प्रक्रियाओं और अवस्थाओं और दिशाओं की पहचान करता है। इतिहासलेखन का काम साहित्य के विकास के दौरान घटित परिवर्तनों को समझना उनकी व्याख्या करना, परिवर्तनों के आपसी संबंध की संगत और असंगत पहचान करना और नए परिवर्तनों को प्रेरित करना भी है। हिन्दी साहित्य के इतिहासलेखन की समस्याओं पर विचार करने, इतिहास पर पुनर्विचार करने का अर्थ है कि हम परिवर्तन के जिस नए दौर से गुजर रहे हैं और हिन्दी साहित्य के भविष्य की तलाश करने की कोशिश कर रहे हैं। वैसे में इतिहासबोध सिर्फ इतिहासबनाने वालों की चीज नहीं है। इतिहास केवल भोग करने वालों के काम की चीज नहीं है। बल्कि इतिहासबोध उनके लिए भी है जो इतिहास से पीड़ित हैं। साहित्य के इतिहास के सन्दर्भ में इतिहास बनाने वाले जो रचनाकार होते हैं और जो उनके पाठक होते हैं उनके लिए भी इतिहासबोध आवश्यक है। साहित्य के लिए नए इतिहास लेखन के सन्दर्भ में जो प्रश्न आज विचारणीय हैं और उन पर किसी भी इतिहास लेखक को

आवश्यक रूप से विचार करना चाहिए उनमें से पहला प्रश्न है—'हिंदी और उसकी बोलियों का सम्बन्ध ।' हम जब अपने साहित्य का इतिहास पढ़ते हैं तो यह कहते हुए हम बहुत गर्व महसूस करते हैं कि हम उसी भाषा के विद्यार्थी हैं जिसमें कबीर हैं, तुलसी हैं, जायसी है, सूर, विद्यापति और मीरा हैं। यह कहते हुए हम गर्व से ऊपर उठते हैं। लेकिन दूसरी तरफ हम इस बात पर विचार नहीं करते कि जिस भाषा में विद्यापति लिख रहे थे अर्थात मैथिली में, जिस भाषा में कबीर लिख रहे थे मतलब भोजपुरी में, जिस भाषा में जायसी लिख रहे थे अर्थात अवधि में , जिस भाषा में सूर, मीरा और तुलसी ने भी लिखा मतलब ब्रज में। हम बीसवीं सदी में इन भाषाओं में लिखने वाले कितने साहित्यकारों को पढ़ते हैं? कितने साहित्यकारों को जानते हैं? और हमारा जो आधुनिक साहित्य का इतिहास है उसमें इन भाषाओं के कितने लेखक शामिल हैं? यह एक गंभीर प्रश्न है? इसका उत्तर हमें खुद तलाशना होगा। और यह उत्तर कैसे देना है ये हमें ही सोचना है। कहीं यह हिन्दी की साम्राज्यवादी नीति तो नहीं है? साम्राज्यवाद से लड़ते लड़ते हिन्दी का विकास हुआ और उसी साम्राज्यवाद की शिकार अगर यह हिन्दी ही हो गयी तो हम उस साम्राज्यवाद के विरोध में अपना संघर्ष कैसे जारी रखेंगे ? उपनिवेशवाद के विरुद्ध कैसे संघर्ष जारी रखेंगे। यदि हम इस बात की भी चिंता न करें कि तुलसी, जायसी, सूर ने जिस भाषा को आधार बनाया, उन भाषाओं में आज कुछ लिखा ही नहीं जा रहा है। और उन भाषाओं से हिन्दी की दूरी इतनी कैसे बढ़ गयी? क्या हिन्दी भाषा समूह की जो सामूहिक संस्कृति थी। उसको हमने समझने, जारी रखने में कहाँ गलती की? कहाँ चूक हो गयी हमसे? जो भी नया इतिहास लिखा जाएगा और लिखा भी जाना चाहिए इस विषय को लेकर। अगर हम हिन्दी समूह की अन्य भाषाओं को हिन्दी साहित्य के इतिहास के साथ जोड़कर नहीं रखेंगें तो सिर्फ खड़ी बोली में लिखे जाने वाले साहित्य के इतिहास के आधार पर हम हिन्दी के हजार साल के इतिहास को किस तरह से न्यायोचित ठहरा पाएंगे? यह हमारे सामने बड़ा सवाल है। और इस सवाल का जवाब हमें

इतिहास लिख कर ही देना होगा। कोई भी मुकम्मल इतिहास इस सवाल से टकराए बगैर नहीं लिखा जा सकता । हमने देखा कि बीसवीं सदी में हमारे तमाम ऐसे लेखक हैं। जो हिन्दी के अलावा अन्य भाषाओं में लिखते हैं। नागार्जुन मैथिली में लिख रहे थे। स्वयं रामविलास शर्मा अवधी में लिखते हैं। ऐसे बहुत से लेखक हैं जो हिन्दी के अलावा अन्य भाषाओं में कविता लिखते हैं। तो ऐसा नहीं है कि बीसवीं सदी में आकर जो भारत की तहजीब थी कि एक नहीं कई बोलियों के साथ जीने की आदत भारत के लोगों को है और यह भारत की बहुत बड़ी ताकता है तो फिर हम सिर्फ खड़ी बोली को ही साहित्य की मुख्यधारा मानकर हिन्दी की अन्य बोलियों की उपेक्षा कर रहें हैं तो यह हमारे इतिहासबोध, हमारी आलोचना दृष्टि, हमारी समझ पर एक बहुत बड़ा सवाल है। हिन्दीतर क्षेत्र के बाहर के विद्यार्थी अब तक लिखे गए इतिहास पर अगर कबीर, तुलसी , सूर, को न पढ़ना चाहें। उन्हें हिन्दी का कवि ना स्वीकार करें तो उनमें उनका दोष नहीं है। गैर हिन्दी भाषी क्षेत्र से अक्सर यह आवाज उठती रही है कि हिन्दी का आदिकालीन, भक्तिकालीन, रीतिकालीन, यहाँ तक कि भारतेन्दुकालीन कविताएँ उन्हें समझ नहीं आती। असल में खड़ी बोली हिन्दी से वे उक्त साहित्य की कविताओं को जोड़ नहीं पाते। ऐसे में 'हिन्दी साहित्य का अस्सी वर्ष' ही उन्हें हिन्दी साहित्य का प्रमाणित प्रतीत हो तो क्या गलत है? असल में यह हमारी संकुचित साहित्य की इतिहास दृष्टि का ही परिणाम है। हिन्दी साहित्य का आज के सन्दर्भ में पुनर्लेखन करने वाले इतिहासकरों को इस प्रश्न का जवाब खोजना होगा कि यह समस्या क्यों उत्पन्न हुई है और इसका समाधान क्या है? नए इतिहास लेखन के लिए नए इतिहास लेखकों को यह भी देखना होगा कि आज जिस भाषा में साहित्य लिखा जा रहा है वह पहले की साहित्य सृजन की भाषा से किस रूप में अलग है। अब तक जो समुदाय साहित्य से उपेक्षित थे उनकी अभिव्यक्ति अब तक की मुख्यधारा के साहित्य-भाषा के साथ एक मुठभेड़ की तरह होती है। भाषा सिर्फ शब्द नहीं होता बल्कि वह संस्कृति विशेष की वाहक भी होती है। प्रत्येक भाषा की अपनी एक संस्कृति और समुदाय होती है। इसीलिए जब कोई नया समुदाय साहित्य के इतिहासलेखन की ओर प्रवृत्त होता है तो वो अपने साथ नए अनुभव और नया इतिहास लेकर आता है। नए इतिहास के साथ आवश्यक है कि वह साहित्य के विविध

पक्षों पर ऐतिहासिक विश्लेषण करने के साथ साथ भाषा के मुद्दे पर भी गंभीरता से विचार करे। हिन्दी की मौखिक परंपरा पर विचार करते हुए नलिन विलोचन शर्मा ने लिखा है-" एक वह भी समय था जब हमारे यहाँ के इतिहास ग्रन्थ, चाहे राजनैतिक इतिहास संबंध रखते हो या साहित्यिक इतिहास से, मात्र दंतकथाएं और किम्वदंतियों के संकलन होते थे। अवश्य यह सर्वथा अवांछनीय वस्तुस्थिति थी। आज इसके विपरीत हिन्दी साहित्य के विद्वान वैज्ञानिक दृष्टिकोण के ऐसे समर्थक हो गए हैं कि वे तारीख और नाम को ही साहित्य की प्रमाणिकता का एकमात्र कसौटी मान बैठे हैं। यह स्थिति भी खतरों से खाली नहीं है।"[15]

दूसरा सवाल जो इसी से जुड़ा हुआ है वह हिन्दी-उर्दू का सवाल है। हिन्दी और उर्दू को लेकर जैसे गार्सा द तासी ने अपने इतिहास में, जो हिन्दी साहित्य के इतिहासलेखन का प्रारंभिक प्रयास माना जाता है । उसमें उन्होंने लिख दिया कि हिन्दुई हिन्दुओं की और उर्दू मुसलमानों की भाषा है। जो सच्चाई से बहुत दूर की बात थी। इस आरोप का, इस प्रतिकार का जवाब हिन्दी के साहित्यकारों ने जैसे दिया वो किस प्रकार का था?

वास्तव में हिन्दी-उर्दू की जो समझ तासी ने प्रस्तुत की वह गलत थी। प्रेमचंद, भारतेंदु, बालमुकुंद गुप्त आदि साहित्यकारों का हिन्दी साहित्य में होना, इस धारणा को गलत साबित करते हैं। बालमुकुंद गुप्त तो हिन्दी-उर्दू दोनों भाषाओं में अखबार निकालते थे। प्रेमचंद ने दोनों भाषाओं में साहित्य रचना की है। प्रेमचन्द के होते हुए हिन्दी-उर्दू के बीच कोई खाई नहीं पैदा की जा सकती है। स्वयं शुक्ल जी ने भी स्वीकार किया है कि मामला केवल शब्दावली का है और कोई फर्क नहीं है हिन्दी-उर्दू के बीच। लेकिन बाद में हम कहते रहे कि हम एक हैं और यह कहते कहते दूर तक चले गए। उर्दू को लेकर दो प्रकार के लोग हैं। एक वे जो उर्दू से धृतराष्ट्र की तरह प्रेम करते हैं मतलब उसके पूरा अस्तित्व मिटा कर। वर्तमान में उर्दू एक अलग ही भाषा है, इसमें कोई डोरे नहीं है। लेकिन हिन्दी-उर्दू के बीच जो सम्बन्ध है वह हिन्दी-

मैथिली, हिन्दी-भोजपुरी, हिन्दी-राजस्थानी, की तरह ही है। इससे इतर नहीं है। वह हिन्दी भाषा समूह में ही है। हिन्दुस्तानी कह कर प्रेमचन्द और गाँधी जी ने उसका जो समाधान किया था वह समाधान बहुत सुन्दर समाधान था। शमशेर जी ने जरुरत समझी कि हिन्दी-उर्दू का ऐसा इतिहास लिखा जाना चाहिए कि जिसमें, हिन्दी-उर्दू दोनों की साझी रवायत हो। उस विरासत को समझने की कोशिश होनी चाहिए और उसको समझे बगैर हम न हिन्दी साहित्य के इतिहास को समझ सकते हैं और न उस संस्कृति को समझ सकते हैं जिसमें हिन्दी भाषा का विकास हुआ, हिन्दी साहित्य का विकास हुआ। इसीलिए हिन्दी-उर्दू के प्रश्न को नए इतिहासलेखन में, जो काम शुक्ल जी से छूट गया। जो काम शमशेर जी नहीं कर पाए, बहुत सारे इतिहास लेखकों ने तो इस पर विचार ही नहीं किया। शमशेर जी ने लिखा कि यह कितने आश्चर्य की बात है कि मिर्जा ग़ालिब हिन्दी के हर पाठक के हृदय में शामिल हैं लेकिन वह हमारे हिन्दी साहित्य के इतिहास में नहीं हैं। कोई भी नया इतिहास लेखक इस पर विचार करेगा, तब जाकर हम उस तरह से जैसे हम हिन्दी की बोलियों के साथ जो समस्या महसूस कर रहे हैं वैसे ही उर्दू के साथ की भी समस्या समझ सकेंगे और एक मुकम्मल समाधान हिन्दी-उर्दू के बीच ढूंढ सकेंगे।

तीसरा जो प्रश्न है नए इतिहास लेखन के सामने वह समकालीन विमर्श से जुड़ा प्रश्न है। दलित लेखन, स्त्री-लेखन, आदिवासी-विमर्श, अल्पसंख्यक विमर्श, ये सारे जो अस्मितामूलक जो रचनाएँ आ रहीं हैं। इस विमर्शों के बाद ये जो सोचने की जरूरत है कि इनको अगर अपनी छाया साहित्य के इतिहास में नहीं दिखाई पड़ रही है तो इसमें किसका कसूर है? 'वसुधा' पत्रिका में मार्च 1960 में गोरखनाथ ने एक लेख लिखा था उसमें उन्होंने चीनी साहित्य का हवाला देते हुए कहा था कि चीनी नवलेखन में रचनाकारों की संख्या बहुत बढ़ रही है। मुक्तिबोध ने कवियों की बढ़ती संख्या का कारण देते हुए लिखा था-" साहित्य क्षेत्र में सामान्य जनता तभी सक्रिय हो उठती है, जब उसमें कोई व्यापक सांस्कृतिक आंदोलन चल रहा हो- ऐसा आन्दोलन

जो उसके आत्मगौरव और आत्मगरिमा को स्थापित और पुनःस्थापित कर रहा हो।... चूँकि जनता स्वयं साहित्य तैयार कर रही है, इसीलिए लेखकों की बेशुमार भीड़ होना स्वाभाविक ही है। साथ ही यह भी स्वाभाविक है कि जनता द्वारा उत्पन्न सारा का सारा साहित्य उच्च कोटि का न हो।"[16] यह जवाब उन लोगों के लिए है जो अस्मितामूलक रचनाओं को साहित्य मानने के लिए तैयार नहीं हैं और जो साहित्य ही नहीं मान रहा वह इतिहास में उसे जगह देने पर विचार ही कैसे करेगा?

नए इतिहासकार को इसकी पड़ताल करनी होगी कि किस ऐतिहासिक दबाव के कारण स्त्री, दलित, आदिवासी, और मुस्लिम साहित्य का उभार हो रहा है। इन सभी समकालीन प्रश्नों से नए इतिहासकार को जूझना होगा।

चौथा प्रश्न हिन्दी साहित्य के इतिहास में विचारणीय होना चाहिए वह है भारत के बाहर हिन्दी भाषा में लिखा जाने वाला साहित्य। हम जानते हैं कि भारत एक बहुभाषी देश है। भारत की बहुभाषिता ही इसकी बहुत बड़ी ताकत है। अग्रेजों ने कहा कि भाषाओं का अजायबघर है। अजायबघर की वस्तुएँ जीवन्त नहीं होती हैं। अर्थात वे हमारी बहुत सी भाषाओं को मृत मानते थे। लेकिन इन्हीं मृत भाषाओं से जब एक जमाने में लोक जागरण हुआ था और नव जागरण जो हुआ था तो उस से वही कितने परेशान हुए। और उस जमाने में उन्होंने किस तरह से प्रतिबद्ध की राजनीति का सहारा लिया। किन्तु इस पर यहाँ विस्तार से बात करने का अवकाश नहीं है। लेकिन हमें यह विचार करना है कि जो लेखक अन्य प्रदेशों में रहकर एक अलग सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में रहकर साहित्य लिख रहे हैं। उनको हम अपनी मुख्यधारा की रचनाएँ हैं उनके साथ कैसे जोड़कर देखेंगे? इसी के साथ अगला जो प्रश्न है वह हिन्दी का प्रवासी साहित्य है। हिदी में एक नए साहित्य के इतिहास लेखन के लिए एक बड़ी चुनौती प्रवासियों द्वारा हिन्दी में रचे जा रहे साहित्य को लेकर रहेगी। भारत से इतर देशों में जो हिन्दी का साहित्य रचा जा रहा है। उस से अनायास ही हिन्दी समृद्ध हुई है और उस से उसका एक वैश्विक स्वरूप विकसित हुआ है। पिछले कुछ दश्कों में यह विकास बड़ी तेजी से हुआ है। और उसमें रचनाकारों का एक विशिष्ट योगदान है। यदि आज हिन्दी विश्व की पांच सर्वाधिक बोली जाने वाली

भाषाओं में है तो उसका श्रेय उन विशाल प्रवासी समुदाय को ही जाता है जो भारत से इतर देशों में जा कर बसने के बावजूद हिन्दी को भूले नहीं बल्कि उसको अपनाए हुए हैं। इन देशों में रचा जा रहा साहित्य उन देशों के परिवर्तन से ही हमारा परिचय नहीं करता वरन उनके भाषा से शब्द भी ग्रहण कर रहा है फलस्वरूप हिन्दी का एक नया स्वरूप विकसित हो रहा है। इस भाषा में हिन्दी का एक नया स्वाद है। एक नयी गंध है। विदेशी समाज में रह रहे भारतीयों के सरोकारों से ही नहीं इस साहित्य के माध्यम से हम उस समाज की विभिन्न समस्यायों से भी परिचित हो रहे हैं। जिसका अंग वह प्रवासी समुदाय है। विदेश में रह रहे भारतीय समुदाय का महत्व इसलिए भी बढ़ जाता है क्योंकि उनकी रचनाओं में अलग अलग देशों की विभिन्न परिस्थितियों का विकास मिलता है और इस प्रकार हिन्दी साहित्य का अंतर्राष्ट्रीय विकास होता है। और समस्त विश्व हिन्दी भाषा में विस्तार पाता है । बीसवीं सदी के मध्य से भारत छोड़कर विदेश जा बसने वाले लोगों की संख्या में बहुत वृद्धि हुई। इनमें से अनेक लोग हिन्दी के विद्वान थे और भारत छोड़ने से पहले ही लेखन में लगे हुए थे। ऐसे लेखक अपने लेखन में चुपचाप लगे हुए थे और पर उनमें से कुछ भारत में प्रकाशित होकर लोकप्रिय भी हुए। बीसवीं सदी का अंत होने के लगभग लगभग 100 प्रवासी अलग लग देशों में रचना कर रहे थे। 21वीं सदी के प्रारंभ में 50 से भी अधिक साहित्यकार भारत में अपनी पुस्तकें प्रकाशित करवा चुके हैं इसे लेखकों को खुला मंच मिल गया और विश्वव्यापी पाठकों तक पहुँचने का खुला मंच भी। इसके साथ ही हमें और इतिहासलेखन को इस चुनौती से भी टकराना होगा कि वैश्विक स्तर पर हिन्दी भाषा में लिखे जा रहे साहित्य को भी इतिहासलेखन में स्वीकार किया जाएगा? प्रवासी भारतियों द्वारा रचित साहित्य को क्या हिन्दी साहित्य के नए इतिहास में शामिल किया जाएगा और यदि शामिल किया जाता है तो उनके प्रभाव से किन किन नई प्रवृत्तियों का समावेश हिन्दी साहित्य में किया जाएगा। यह इतिहास लेखक के लिए हिन्दी साहित्य का जटिल किन्तु महत्वपूर्ण प्रश्न है हम इस प्रश्न से उलझे बिना नए साहित्य का इतिहासलखन नहीं कर पायेंगे।

अगला जो प्रश्न है इतिहासलेखन के लिए चुनौती है वह है हिन्दी का मौखिक साहित्य। हिन्दी साहित्य इतिहास में हमारा हजारों साल का मौखिक और लौकिक

साहित्य मौजूद है लेकिन वह इतिहास में कहाँ है? साहित्य के विद्वान यदि जोर शोर से साहित्य और समाज के सम्बन्ध की बात करते हैं। हाशिए के समाज को इतिहास में स्थान देने की बात करते हैं तो क्या समाज का सिर्फ शिष्ट समाज होता है? क्या सिर्फ लिखित और शिष्ट जनों के साहित्य से इतिहासबोध विकसित होगा, जबकि समाज का बहुधांश आज भी लिखित साहित्य के सम्पर्क में नहीं आ पाता । वे लौकिक और मौखिक साहित्य के माध्यम से ही खुद को अभिव्यक्त करते और आनंद पाते हैं। इस बहुधांश को छोड़कर किसी समेकित इतिहासबोध का निर्माण करना सम्भव नहीं होगा। वह इतिहासबोध व्यापक महत्व वाला नहीं हो सकता, जो साहित्य की बुनियाद रचने और उसकी रक्षा करने वालों को ही अपने बोध से बाहर रखे। इतिहासकार को इस सहज दिखते संकट एवं अत्यंत महवपूर्ण समस्या का समाधान ढूँढना। और न सिर्फ समाधान ढूँढना होगा बल्कि ससम्मान इतिहास में जगह भी देना होगा।

नए इतिहासलेखन के लिए जो विचारणीय प्रश्न हो सकता है वह है विधाओं का प्रश्न। छायावाद में लिखे जा रहे गद्यकाव्य का, नयी कविता के समय लिखे गए काव्य नाटक, स्वतंत्रता के बाद लिखे गए संस्करण, रिपोर्ताज, यात्रा-वर्णन ललित निबंध आदि विधाओं छूटती जा रहीं । किसी समय बड़ी संख्या में साहित्य लिखा गया, परन्तु बदलते यथार्थ में इनकी उपयुक्तता कम हुई है। इतिहासकार को इन सारे प्रश्नों पर विचार करते हुए बदलते यथार्थ और पाठकीय चेतना का भी विश्लेषण करना होगा। उदाहरण के लिए पिछले दो दशकों में आत्मकथा विधाओं का भरपूर प्रचार-प्रसार हुआ है। दलित और स्त्री रचनाकारों ने विशेषकर इस विधा में अपनी भावनाओं और विचारों का प्रकाशन किया है। कई आत्मकथात्मक उपन्यास भी देखने में आए हैं। किसी समय हिन्दी में आत्मप्रकाशन को रचना के लिए दोष माना जाता था। उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता था किन्तु आज वही उपेक्षित समुदायों के हाथों में हथियार की दृष्टि से देखा जा रहा है। इतिहासकार को विचार करना होगा कि आत्मकथा के विकास में यह आन्दोलनात्मक रूप किन स्थितियों-परिस्थितियों की देन

है। इसके साथ ही वर्तमान समय में नई नई साहित्यिक विधाएँ भी निर्मित हो रही हैं। हमें उन पर भी ध्यान देना चाहिए।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि हिन्दी साहित्य के इतिहास का पुनर्लेखन या नया लेखन एक चुनौती पूर्ण कार्य है। इन सारी समस्यायों से नए इतिहास लेखन को न सिर्फ समसामयिक इतिहास या वर्तमान के आलोक में जूझना होगा बल्कि अब तक के इतिहास लेखन की परंपरा से भी जूझना होगा। प्रो. नामवर सिंह के अनुसार-" इतिहासलेखन का कार्य एकदम नए सिरे से नहीं शुरू करना है। ऐतिहासिक अध्ययन की हमारी अपनी परंपरा है। जब तक हम उस परंपरा को विश्लेषण नहीं कर लेते, हमारा नया प्रयत्न अपूर्ण होगा। नई परिस्थितियों में इतिहास का उपयोग करते समय पूर्ववर्ती इतिहासकारों का अनुशीलन अत्यंत आवश्यक है। ...इतिहास और विचारधारा के द्वंद्वात्मक संबंध का सवाल भी यहाँ उपस्थित होता है। नया इतिहासलेखन किस पद्धति और दृष्टिकोण से किया जाए, यह एक अहम् सवाल है। आज परिस्थितियाँ पहले से ज्यादा कठिन हैं। एक ही साथ कई दृष्टियाँ और विचारधाराएं एक साथ समानांतर चल रही हैं। पहले मार्क्सवादी इतिहास दृष्टि की सीधी टकराहट साम्राज्यवादी एवं राष्ट्रवादी इतिहास दृष्टियों से थी, परन्तु आज भारत व हिन्दी साहित्य के अंदर एक ही लक्ष्य रखने वाले अम्बेडकर और मार्क्सवाद के बीच भी टकराहट की स्थिति उपस्थित हो गई है।"[17] साठ के दशक का वस्तु और रूप का विवाद.. 'कला समाज के लिए', 'कला कला के लिए' आदि का सवाल महत्वहीन हो चुका है। आज तो वस्तु पक्ष को महत्व देने वाले कई धाराओं के बीच ही संघर्ष हो रहा है। इस आपसी संघर्ष के समाधान के साथ नव कलावादी-यथार्थवाद विरोधी धाराओं के खिलाफ भी एक होकर संघर्ष करने की आवश्यकता है। केवल बात से ही समस्या नहीं सुलझ जाती कि हिन्दी साहित्य के इतिहास को मार्क्सवादी पद्धति और दृष्टिकोण से लिखना चाहिए। हिन्दी में साहित्य के मार्क्सवादी इतिहासलेखन की ऐसी पद्धति और दृष्टिकोण का विकास होना अभी बाकी है जिसमें साहित्य की सामाजिकता और साहित्यिकता की साथ साथ रक्षा हो सके। हिन्दी

साहित्य के इतिहास लेखन की समस्याओं पर विचार करने की सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि यही हो सकती है कि हम एक ऐसी पद्धति विकास कर सकें, नए इतिहासलेखन को एक ऐसे साहित्य के इतिहास की पद्धति का विकास करना होगा जहां वर्ग, जाति, लिंग, आदिवासी, धर्म, आदि पर आधारित समस्याओं का वस्तुपरक मूल्यांकन और उनके साहित्य का रेखांकन कर सकें। खंड-खंड में चल रहे साहित्य को साझा मंच प्रदान कर सकें। हिन्दी साहित्य का नया इतिहास लिखने वालों से अपेक्षा है कि बेहद उथल-पुथल से भरे इस दौर के साहित्य और उसके समाज की ऐतिहासिक पड़ताल वैज्ञानिक ढंग से करने का प्रयास करें। साथ ही समाज के वे लोग जो समाज के हाशिए पर संघर्षरत हैं उनकी ऐतिहासिक भूमिका का निर्धारण कर सकें।

वास्तव में इतिहास के पुनर्लेखन की आवश्यकता हमेशा ही बनी रहती है। हर पीढ़ी अपनी समझ और अपनी आकांक्षा के अनुसार इतिहास के पुनर्लेखन का काम करती है। इसीलिए इतिहास लेखन के नए नए प्रयास जो भी हो रहे हैं उन पर संदेह करके की बजाय उनको जांचने, परखने और उनका मूल्यांकन करने की कोशिश करनी चाहिए। इस प्रकार साहित्य के इतिहास के प्रति नया दृष्टिकोण बनाने का अर्थ है कि एक तो साहित्य के प्रति नया दृष्टिकोण, दूसरा इतिहास के प्रति भी नया दृष्टिकोण ।

सन्दर्भ- ग्रन्थ सूची

1. प्लेखानोव, कला के सामाजिक उद्गम,अनुवाद- विश्वनाथ मिश्र, प्रथम संस्करण, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन
2. बेन्यामिन, वाल्टर, नकली आलोचना, अनुवाद- अमिताभ मिश्र पृष्ठ संख्या-62
3. लुकाच, ग्यार्ग, इतिहास और वर्ग चेतना, अनुवाद और सम्पादन-नरेश'नदीम', प्रकाशन संस्थान,2005, पृष्ठ संख्या-104
4. नयी कविता का आत्मसंघर्ष, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, 2007 पृष्ठ संख्या -45
5. डालमिया, वसुधा, 'द नेशनलाईजेशन ऑफ हिंदू ट्रेडिशन्स', ऑक्सफोर्ड युनिवेर्सिटी प्रेस, 2005
6. हाबस्बाम, ऐरिक, क्रांति का युग- 1789-1848, अनुवाद-लाल बहादुर वर्मा, संवाद प्रकाशन, 2009, पृष्ठ संख्या-247
7. कविराज, सुदीप्त, डिस्कोर्स हेजेमनी, संपादक डागमार्ग इन्जेल्स तथा मार्ग, लन्दन 1 वी1, 1994, पृष्ठ संख्या-78-79
8. अग्रवाल, पुरुषोत्तम, विचार का अनंत,2006, पृष्ठ संख्या-26
9. नंदी, आशीष राष्ट्रवाद बनाम देशभक्ति, वाणी प्रकाशन, 2006,पृष्ठ संख्या-29
10. पार्थ,चटर्जी, द नेशन एण्ड इट्स फ्रेग्मेंट्स, ऑक्सफोर्ड युनिवेर्सिटी प्रेस, 1999, पृष्ठ संख्या-6
11. एंडरसन, बेंडिक्ट, इमैजिनड कम्युनिटीज रिफ्लैक्सन ऑन दी ओरिजन ऑफ नेशनलिज्म, लन्दन, 1893

12. बंधोपाध्याय, शेखर, पलासी से विभाजन तक, ओरिएंट लॉन्गमैन, 2007, पृष्ठ संख्या- 206-207
13. डालमिया, वसुधा, 'द नेशनलाईजेशन ऑफ हिंदू ट्रेडिशन्स', ऑक्सफोर्ड युनिवेर्सिटी प्रेस, 2005
14. चौबे, प्रो. देवेन्द्र कुमार, आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास'(१८५७-१९४७), व्याख्यान, यूटूब से साभार, Cec ugc, 8jan, 2013,
15. शर्मा, नलिन विलोचन, साहित्य का इतिहास दर्शन, पटना- बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, विक्रमाब्द-2016, पृष्ठ संख्या- 284
16. नयी कविता का आत्मसंघर्ष, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, 2007
17. सिंह, नामवर, इतिहास और आलोचना, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, 2006

उपसंहार

“ठंड से नहीं मरते शब्द

वे मर जाते हैं साहस की कमी से

कई बार मौसम की नमी से

मर जाते हैं शब्द” - केदारनाथ सिंह

शोध विषय के चयन और लघु शोध-प्रबन्ध पूरा होने तक की संपूर्ण प्रक्रिया के क्रम में ये पंक्तियाँ सदैव मन मस्तिष्क में सक्रिय हस्तक्षेप करती रहीं। खैर! हस्तक्षेप व्यर्थ भी नहीं गया और इन शब्दों की पूरी संवेदना को ध्यान में रखते हुए शोध-कार्य पूरा हुआ। नामवर सिंह ने आलोचना कर्म को 'वाद-विवाद संवाद' कहा है। संवाद की इसी प्रक्रिया को पूरे शोध कार्य के दौरान बनाए रखने का प्रयास किया गया है। संवाद की प्रक्रिया की निरंतरता बनी रहे अतः किसी प्रकार का अंतिम निर्णय स्थगित है। शोध प्रक्रिया के क्रम में विषय से संबंधित कुछ नवीन तथ्य, वैचारिक सूत्र और अवधारणागत निष्कर्ष सामने आए हैं जिनकी संक्षिप्त चर्चा अपेक्षित है। वास्तव में इतिहासबोध जड़ता का नहीं निरंतरता का सूचक, आख्यान का नहीं संवाद का सूचक है। यह सत्य है कि युग सन्दर्भ बदलने से ऐतिहासिक सत्य का स्वरूप बदल जाता है किंतु इतिहासबोध की अवहेलना करके उसके विकास क्रम को समझे बगैर न इतिहास की आलोचना की जा सकती है और न ही आलोचना का इतिहास लिखा जा सकता है। इसी क्रम में इतिहासबोध विमर्शों की एक श्रंखला भी है और सांस्कृतिक साहित्यिक संवाद का माध्यम भी हो चुका है। इतिहासबोध वस्तुतः आलोचनात्मक बोध भी है- ऐसा आलोचनात्मक बोध जिसे आत्मपरीक्षा के लिए प्रत्येक युग का इतिहास और साहित्य सतत परखता चलता है। प्रत्येक कृति किसी लेखक की रचना

होती है और वह लेखक के विचारों और अनुभूतियों को व्यक्त करती है। लेकिन वे विचार और भाव समाज और वर्ग के दूसरे व्यक्तियों के व्यवहार और चिंतन से प्रभावित होते हैं। उनके स्वरूप को लेखक के अपने वर्ग या समूह और समाज के दूसरे व्यक्तियों के विचारों और भावों से जोड़कर अन्तर्वैयक्तिक सम्बंध भावना के रूप में ही समझा जाना चाहिए। साहित्यिक कृति सामूहिक चेतना या परावैयक्तिक चेतना की अभिव्यक्ति इस अर्थ में होती है कि उसकी विश्वदृष्टि की संरचनाएँ लेखक की निजी निर्मिति नहीं होतीं, बल्कि उसके वर्ग के दूसरे व्यक्ति भी उस विश्वदृष्टि के सहभागी होते हैं। यही कारण है कि जब भी हमारे सामने किसी दार्शनिक साहित्यिक और कलात्मक धारा के मूल की खोज की समस्या आती है तो हमें मजबूर होकर एक वर्ग या व्यापक समाज से उसके सम्बन्ध की खोज की दिशा में प्रयत्न करना पड़ता है। एक वर्ग की पूर्णतम संभावित चेतना ही उस विश्वदृष्टि का निर्माण करती है जिसकी अभिव्यक्ति धर्म, दर्शन, कला और साहित्य में होती है। इतिहास लेखन की परंपरा भी इसका अपवाद नहीं है। लिखने के लिए लिखने का प्रक्रम सामाजिक जीवन के सामूहिक व्यक्ति के संबंधानुसार अकर्मक क्रिया नहीं वरन सकर्मक क्रिया का स्वरूप रखता है। हिंदी साहित्य के प्रारंभिक इतिहास ग्रंथों में यह बात स्पष्ट रूप से दिखती है।

इतिहास लेखन के प्रारंभिक प्रयासों में इतिहास लेखन की अनिवार्य शर्तों का अभाव भले ही हो लेकिन उनका अपना ऐतिहासिक महत्व है। उन्होंने इतिहास लेखन के लिए पूर्वपीठिका निर्माण और ऐतिहासिक सामग्री के संचयन का कार्य किया। जिसका परवर्ती इतिहासकारों ने बखूबी उपयोग किया है। आचार्य शुक्ल एवं आचार्य द्विवेदी ने इन्हें कविवृत संग्रह के रूप में स्वीकार किया है। किन्तु कविवृत संग्रह होते हुए भी ये ग्रन्थ हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन के लिए प्रचुर सामग्री उपलब्ध करवाते हैं।

हिन्दी साहित्य के इतिहास का पहला प्रयास गार्सा द तासी द्वारा होता है। फ्रेंच भाषा में लिखे गए, साहित्य के इतिहास में फ्रेंच भाषा और साहित्य की इतिहास दृष्टि साफ़ तौर पर दिखाई देती है। 'फ्रेंच वैदुष्य' एवं उपनिवेश बनाए जाने वाले देश को

परिभाषित करने की दृष्टि तासी के इतिहासग्रन्थ का व्यापक आधार है। इस ग्रन्थ में हिंदी के आलावा उर्दू के कुछ कवियों का जिक्र भी हो गया है। यहाँ तक कि भारत की अन्य भाषाओं के रचनाकारों को भी उन्होंने इसमें समेट लिया है।

कवियों के नाम, जीवन चरित्र, सन संवत् और उनकी कविता इतिहास की एक ख़ास धारणा का संकेत करती है। इतिहास की इस अवधारणा में व्यक्ति और घटना निरंतर आगे की तरफ गतिशील तिथि, वार, संवत में घटित होने वाले काल के साक्ष्य से सिद्ध होते हैं। ध्यातव्य है कि जिस समय शिवसिंह अपने ग्रन्थ का प्रणयन कर रहे थे, यह समय औपनिवेशिक राज के बौद्धिक उपक्रम एवं प्रबुद्ध भारतीयों के अपने प्रयास, इतिहास के क्षेत्र में एक नयी दिशा को प्रस्तावित कर रहे थे। यह समय भारत के इतिहास और समाज में अद्वितीय महत्व रखता है। भले ही शिवसिंह तासी के इतिहास लेखन के ग्रन्थ से परिचित ना हों किन्तु उनका ग्रन्थ पूरी तरह से अपने समय-समाज की ऐतिहासिक चेतना का प्रतिफल ही ठहरता है। शिष्ट भारतीय समाज उस समय पराधीनता का जैसा अनुभव कर रहा था वह अभूतपूर्व है। भारतेंदु अपनी कविताओं में पूछते हैं- ' होय मनुष्य ही क्यों भये हम गुलाम ते भूप'? सिर्फ सवाल ही नहीं पूछे गए अपितु इसके उत्तर भी दिए गए। शिवसिंह ने भी अपने ग्रथ के माध्यम से उत्तर देने का प्रयास किया।

तासी के ग्रन्थ में जहाँ प्राच्यवादी दृष्टि साफ़ दिखाई देती है वहीं सरोजकार में राष्ट्रवादी दृष्टि मुख्य रूप से दिखाई देती है। जहाँ तासी ने अपने ग्रन्थ की भूमिका में इंग्लैंड की महारानी विक्टोरिया को ग्रन्थ समर्पित किया है वहीं शिवसिंह अपने ग्रन्थ की भूमिका में भारतीय साहित्य के महान रचनाकारों एवं उनके महत्व का रेखांकन किया है। संस्कृत की समृद्ध परंपरा का उल्लेख करते हुए उन्होंने संस्कृत के साहित्य को भी उद्धृत किया है। तासी ने विक्टोरिया के शासन को भारत का समृद्ध युग स्वीकार किया है। वहीं शिवसिंह ने संस्कृत साहित्य और प्राचीन युग का गुणगान बहुत सी जगहों पर किया है। मिश्रबधुओं ने इसी को विस्तार दिया।

तासी, ग्रियर्सन, शिवसिंह और मिश्रबंधुओं के प्रयोजन में एक बहुत बड़ा अंतर यह भी है कि उनका पाठक वर्ग पूर्णतः भिन्न है। तासी का उद्देश्य यूरोपीय पाठकों को हिन्दुस्तानी साहित्य का ज्ञान करवाना था। ग्रियर्सन का उद्देश्य हिन्दुस्तानी का कालक्रम इतिहास लिखना था वहीं शिवसिंह का उद्देश्य भारतीय पाठक-वर्ग ही रहा होगा और मिश्रबंधुओं का उद्देश्य पुनरुत्थानवादी चेतना से अनुप्राणित था।

तासी के इतिहासग्रन्थ के आधार ग्रन्थ मुख्यतः विदेशी विद्वानों के संकलन रहे हैं वहीं शिवसिंह ने केवल भारतीय ग्रथों के आधार पर ही अपना इतिहास-ग्रन्थ लिखा है। ग्रियर्सन ने देसी, विदेशी सभी तरह के साहित्य का अपने ग्रन्थ में निचोड़ प्रस्तुत किया है। मिश्रबंधुओं ने उस समय उपलब्ध हर प्रकार की सामग्री का प्रयोग किया है, जिसका संकलन सभा ने किया था।

तासी और शिवसिंह के इतिहासग्रंथों में साहित्य के इतिहासलेखन की विभिन्न समस्याएं सामने आती हैं। काल-विभाजन, नामकरण एवं प्रवृत्ति निरूपण का कोई प्रयास इन ग्रंथों में नहीं किया गया। जो कि इतिहास के अनिवार्य पहलु होते हैं। विभिन्न व्यावहारिक कारणों से यह संभव नहीं हो सका। हिन्दी के सैकड़ों वर्षों के इतिहास को बिना किसी दिशा निर्देश के एक मुकम्मल इतिहास का रूप पहनाना सम्भव नहीं था। वो भी जब साहित्यकारों का संग्रह भी नहीं हुआ था। यही कारण है कि इतिहासलेखन से पूर्व कवि-वृत्त संग्रह की आवश्यकता बड़ी शिद्दत से महसूस की गयी। इन इतिहासलेखकों को यह स्पष्ट था कि उनकी व्यावहारिक कठिनाइयाँ भविष्य के लिए इतिहासलेखन की दिशा को प्रशस्त करने में मील का पत्थर प्रमाणित होंगी। उसी के परिणाम थे ये शुरूआती संकलन। उपयुक्त के अलावा इतिहासलेखन के लिए चयन, व्याख्या, श्रेणीकरण, एवं पुनर्निर्माण के सहारे सामान्यीकरण जैसे तत्व महत्वपूर्ण होते हैं। जिसका पूर्णतः आभाव इन ग्रंथों में दिखाई देता है। इसी की अगली कड़ी के रूप में ग्रियर्सन ने परंपरा को आगे बढ़ाया जिसकी तासी और शिवसिंह को अपेक्षा थी। वहीं मिश्रबंधुओं ने तो परम्परा की प्रत्याशा में भारी वृद्धि की।

इतिहासलेखन में मोटे तौर पर जिस पद्धति का प्रयोग किया जाता है वह है- 'विधेयवाद'। ग्रियर्सन ने अपने इतिहासग्रन्थ में इसी पद्धति को अपनाने का सर्वप्रथम प्रयास किया है। ध्यातव्य है कि ग्रियर्सन एक ऐसे राज्य के प्रतिनिधि के तौर पर हिंदी साहित्य के इतिहास के अनुकर्ता थे जिसने हिंदी जाति पर अपनी सत्ता कायम की हुई थी। ग्रियर्सन की इतिहासदृष्टि भी इसी अनुशंसा से प्रभावित थी। एक गुलाम जाति के साहित्य को परिभाषित करने की कोशिश उनके इतिहासग्रन्थ में सामान्य तौर पर देखी जा सकती है। यह इतिहास दृष्टि मुख्य रूप से ग्रियर्सन की प्राच्यवादी मानसिकता की ओर संकेत करती है।

ग्रियर्सन ने हिन्दुस्तान शब्द का अर्थ हिन्दी भाषा- भाषी प्रदेश किया है। इसमें उन्होंने मारवाड़ी, ब्रजी, बिहारी के लिखित साहित्य का उल्लेख किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भाषा के स्वरूप के विकास में जिस दृष्टिकोण का परिचय उन्होंने दिया है वह परवर्ती इतिहासकारों के लिए पथप्रदर्शक है । उन्होंने हिन्दी साहित्य का भाषा की दृष्टि से क्षेत्र निर्धारण करते हुए स्पष्ट किया है कि इसमें न तो संस्कृत-प्राकृत को शामिल किया जा सकता है न अरबी-फ़ारसी मिश्रित उर्दू को।

ग्रियर्सन ने हिन्दी साहित्य में एक बड़ा योगदान 'तुलसीदास' से सम्बन्धित अध्ययन करके दिया है। उन्होंने तुलसी के मनोवैज्ञानिक अध्ययन को अग्रसर किया। अनेक इतिहासकारों ने ग्रियर्सन की विचारधारा, चिंतन और स्थापनाओं को अपनाकर भारी यश अर्जित किया है।

आगे मिश्रबंधुओं ने परंपरा का अवगाहन करते हुए हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखा। मिश्रबंधुओं द्वारा विरचित 'मिश्रबंधु-विनोद' है। इस ग्रन्थ में लगभग 5000(4591) कवियों के उदाहरण के साथ ही इतिहासलेखन के सभी पहलुओं के निर्वाह का प्रयास किया गया है। मिश्रबंधु विनोद में जो सबसे बड़ी बात दिखाई देती है वह है स्वयं को उस राज्य-सत्ता से श्रेष्ठ रेखांकित करने का प्रयास जिसने उसे एक पूर्वनिर्धारित दृष्टि से परिभाषित किया है अर्थात स्वयं की अस्मिता को परिभाषित करने की अथक चाह। कहना न होगा कि आत्मरेखांकन का यह

प्रयास औपनिवेशिक सत्ता के विरुद्ध होते हुए भी उसी से अनुप्राणित भी था। जाहिर है इस प्रयास में वे अतिश्लघा से मुक्त नहीं हो पाए अपितु अपने उद्देश्य के विरुद्ध कहीं-कहीं वे ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति राजभक्ति के संस्कार से भी मुक्त न हो सके। रचनाकारों में इस मानसिक उलझाव को भी देखा गया है।

ये ग्रन्थ वास्तव में हिन्दी साहित्य की आधारशिला हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल का इतिहास ग्रन्थ वस्तुतः इन्ही पर टिका है। ग्रियर्सन की खोज रिपोर्टों की परम्परा पर मिश्रबंधुओं ने अपना 'मिश्रबंधु विनोद' लिखा । ग्रियर्सन का ग्रन्थ अंग्रेजी में लिखे जाने के कारण बहुत उपयोग में नहीं लाया गया। किन्तु विनोद के बिना तो एक मुक्कमल इतिहास- लेखन संभव ही नहीं होता।

तासी ने भाषा पर विचार करते हुए पूरे उत्तर भारत की भाषा और साहित्य पर बहुत गहराई से विचार किया है। वे हिन्दुस्तानी के काव्यात्मक महत्व को भी निर्धारित करते हैं। ध्यातव्य है कि तासी एक भाषा वैज्ञानिक थे। उर्दू के प्रोफेसर के रूप में उनके लिए एक पद का सृजन किया गया था। उनके ग्रन्थ में भाषा का विश्लेषण साफ़ दिखाई देता है। उन्होंने हिन्दुस्तानी, हिन्दुई, संस्कृत, फारसी भाषा पर अपने ग्रन्थ में विस्तार से विचार किया है। वहीं शिवसिंह इंस्पेक्टर थे और उन्होंने न सिर्फ खोज की है हिन्दी के सैकड़ों कवियों की अपितु उनका संकलन प्रस्तुत किया है। शिवसिंह जहां कवियों की रचनाओं को 'भाषा' में लिखा हुआ बताते हैं संभवतः वहाँ उनका अभिप्राय होगा कि संस्कृत से इतर साहित्य की भाषा या ब्रज भाषा। उन्होंने संस्कृत से इतर हिन्दी की सभी बोलियों के लिए 'भाषा' संज्ञा का उपयोग किया है।

ग्रियर्सन ने भी अपने इतिहास-ग्रन्थ में 'भाषा' संज्ञा का प्रयोग किया है। मिश्रबंधुओं ने भी अपने ग्रन्थ में 'भाषा' की परिभाषा दी है। इस भाषा शब्द को समझाते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने इतिहास-ग्रन्थ में लिखा है-'संस्कृत मिश्रित हिन्दी को उर्दूवाले भाषा कहते थे'। मतलब साफ़ है कि तासी ने भी और ग्रियर्सन ने भी हिन्दी को भाषा कहा है। और बाद में अपने भाषा विज्ञान के विश्लेषण के आधार पर

हिन्दुस्तानी। विदेशी भाषाओं में इतिहास लिखने की शुरुआत भाषा वैज्ञानिकों द्वारा हुई। वहीं हिन्दी में साहसी और खोजी प्रबुद्ध वर्ग के प्रतिनिधियों के द्वारा।

सर्वप्रथम तासी के इतिहासग्रथ में हिन्दी से ज्यादा उर्दू कवियों की रचनाएँ संकलित हैं। वहीं अन्य भारतीय भाषाओं के कवियों की रचनाओं को भी उन्होंने संकलित किया हैं। वहीं शिवसिंह ने केवल उन्हीं कवियों को अपने ग्रन्थ में स्थान दिया है जो हिन्दी और उसकी उपभाषाओं में रचना कर रहे थे। शिवसिंह ने बहुत से राजे-महाराजों की रचनाओं का संकलन किया है। वहीं तासी के ग्रन्थ में यह प्रवृत्ति नहीं दिखाई देती।

वास्तव में हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परंपरा में ये ग्रन्थ एक विशेष युग की उपज ही तो दर्शाते हैं। तासी प्राच्यविद्या संस्थान का प्रतिनिधित्व करने वाले विद्वान थे और शिवसिंह भारत की परंपरा को प्रतिष्ठापित करने की योजना बनाने वाले विद्वान। वहीं ग्रियर्सन ने भी प्राच्यवादी दृष्टि को और पुष्पित–पल्लवित किया और मिश्रबंधुओं ने राष्ट्रवाद को विस्तार दिया। तासी की दृष्टि का चरमोत्कर्ष ग्रियर्सन के इतिहास में पहुँचता है तो शिवसिंह की दृष्टि का चरमोत्कर्ष मिश्रबंधुओं में। तासी और ग्रियर्सन का ग्रन्थ जहाँ प्राच्यवादी संस्कृति के स्पष्ट चरणों को प्रतिबिंबित करता है वहाँ शिवसिंह और मिश्रबंधुओं का ग्रन्थ राष्ट्रवाद के दो स्पष्ट चरणों को।

ध्यातव्य है कि हिंदी साहित्य के इतिहासलेखन का प्रारंभ एक ऐतिहासिक घटना है। भारत में छापे खाने के प्रसार ने हिंदी साहित्य के अनेक प्रक्षिप्त, अप्राप्य ग्रंथों को सुलभ बनाया। इस सन्दर्भ में फोर्ट विलियम कॉलेज से लेकर प्रचारिणी सभा तक का अमूल्य योगदान है। छापेखाने की पद्धति ने साहित्य को एक ऐसा सर्वसुलभ और संरक्षणीय आकार दिया जिससे आधुनिक समय में साहित्य का इतिहास लिखा जाना संभव हुआ।

साहित्य यद्यपि एक सामाजिक प्रक्रिया है पर साहित्येतिहास लेखन प्रायः विश्वविद्यालयी प्रक्रिया का अनिवार्य अंग रहा है। भारत में आधुनिक विश्वविद्यालयों के निर्माण के साथ-साथ इतिहास का अध्ययन भी अनिवार्य होता रहा। हिंदी साहित्य के इतिहास के परिपेक्ष्य में देखें तो इसका उपयोग आज केवल एकेडमिक

दृष्टि से ही रह गया है। यही वजह रही है कि प्रायः सभी विश्वविद्यालयों में जहां भी हिंदी साहित्येतिहास का अध्ययन-अध्यापन होता रहा है वहाँ इतिहास लेखन के अलग-अलग प्रयास भी नजर आते हैं। साहित्येतिहास लेखन के ये भिन्न-भिन्न प्रयास मुख्य रूप से साहित्येतिहास लेखन की गंभीर समस्याओं की तरफ़ इशारा करते हैं।

वर्तमान समय में इतिहास एक आधुनिक अकादमिक विषय के रूप में विश्वविद्यालयों में पढ़ाया जाता है और विशेषज्ञों के रूप में इतिहासकारों का एक खास वर्ग इसमें सक्रिय रहता है। परन्तु हिंदी साहित्येतिहास लेखन के प्रारंभिक प्रयासों के समय की परिस्थितियाँ आज से बहुत अलग थीं। इतिहास सिर्फ कक्षाओं और सेमिनारों में विशेषज्ञता प्राप्त विद्वानों का विषय नहीं था अपितु वह पूरे युग का जीवंत सन्दर्भ था। इतिहास लेखन का तत्कालीन प्रयास मात्र इतिहास लेखन या घटनाओं का संकलन न होकर वर्तमान और भविष्य से भारत के पुनर्निर्माण का भी द्योतक था। साहित्य का इतिहास लेखन भी कमोबेश इसी आधार पर लिखा गया। इसीलिए विवेच्य इतिहास ग्रंथों में समानांतर राजनीतिक दृष्टि की छानबीन मुख्य रूप से की गई है।

किसी भी साहित्य के इतिहास के आरंभिक ग्रन्थ होने के कारण जो साहित्येतिहास लेखन की समस्याएं हो सकती हैं, हिन्दी साहित्य के प्रारंभिक इतिहास ग्रंथों में भी यह उपस्थित हैं। फिर भी इनका दाय तो आज भी स्वीकार्य है। वस्तुतः ये इतिहास-ग्रन्थ साहित्येतिहास लेखन के प्रतिमानों का निर्माण कर भी रहे थे और स्वयं उससे प्रभावित भी हो रहे थे।

परिशिष्ट

एक : आधार ग्रन्थ

1. ग्रियर्सन, डॉ. सर जार्ज, ***माडर्न वेर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ नॉर्दन हिन्दोस्तान,*** अनुवाद- ***हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास,*** किशोरीलाल गुप्त, वाराणसी, हिंदी प्रचारक पुस्तकमाला, 1957
2. तासी, गार्सा द, *इस्त्वार द ला लितेरात्यूर ऐन्दुई ऐ ऐन्दुस्तानी* का हिन्दी अनुवाद, *'हिन्दुई साहित्य का इतिहास'*, अनुवाद-लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, इलाहाबाद- हिन्दुस्तानी एकेडेमी, 1953
3. ***मिश्रबंधु-विनोद,*** मिश्रबंधु, लखनऊ, गंगा पुस्तकमाला, 1972
4. सेंगर, शिवसिंह, *शिवसिंह सरोज*, संपादक- डॉ. किशोरीलाल गुप्त, प्रयाग- हिंदी साहित्य सम्मेलन, 1970

दो : सहायक-ग्रन्थ-सूची

1. अग्रवाल, पुरुषोत्तम, वर्चस्व और प्रतिरोध, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, दूसरा संस्करण, 2008
2. श्रीधरन, ई. ,इतिहास-लेख, एक पाठ्यपुस्तक, नई दिल्ली, ओरियंट ब्लैकस्वान प्राइवेट लिमिटेड, 2011
3. कार, ई. एच, इतिहास क्या है, चेन्नई- मैकमिलन पब्लिशर्स इंडिया लिमिटेड, 2009

4. कश्यप, श्याम, संपादक, हिंदी साहित्य का इतिहास : पुनर्लेखन की समस्याएं, दिल्ली- हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, 1994

5. कुमार, विजय, अँधेरे समय में विचार, मेरठ- संवाद प्रकाशन, 2006

6. कोठारी, रजनी, साम्प्रदायिकता और भारतीय राजनीति, नई दिल्ली, रेनबो प्रकाशन, 1998

7. कृष्ण, डॉ. प्रणय, 'प्रमुख उत्तर-औपनिवेशिक चिन्तक और उनके विमर्श'— उत्तर-औपनिवेशिकता के स्रोत और हिंदी साहित्य, लोकभारती प्रकाशन, प्रथम संस्करण-2008

8. गुप्त, किशोरीलाल, सरोज- सर्वेक्षण, हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रथम संस्करण, 1967

9. गुप्त, किशोरीलाल, हिंदी साहित्य के इतिहासों का इतिहास, साहिबाबाद- विभू प्रकाशन, 1978

10. चतुर्वेदी, रामस्वरूप, हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास, इलाहबाद- लोकभारती प्रकाशन, 2006

11. चंद्रा, विपिन, आधुनिक भारत में साम्प्रदायिकता, दिल्ली, विश्वविद्यालय, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, 1996

12. दामोदरन, के, भारतीय चिंतन परंपरा, दिल्ली, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय,1982

13. नगेन्द्र, डॉ., संपादक, हिंदी साहित्य का इतिहास, नोयडा-मयूर पेपरबैक्स, 2005

14. नगेन्द्र, डॉ., संपादक, भारतीय साहित्य का समेकित इतिहास, दिल्ली- हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, 2009

15. तलवार, वीरभारत, रस्साकशी, दिल्ली, सारांश प्रकाशन, 2006

16. त्रिपाठी, विश्वनाथ, हिंदी साहित्य का सरल इतिहास, नई दिल्ली- ओरियंट ब्लैकस्वान, 2011

17. द्विवेदी, हजारीप्रसाद, हिंदी साहित्य: उदभव एवं विकास, दिल्ली- राजकमल प्रकाशन 2010

18. द्विवेदी, हजारीप्रसाद, हिंदी साहित्य का आदिकाल, दिल्ली- वाणी प्रकाशन, 2006

19. द्विवेदी, हजारीप्रसाद, हिंदी साहित्य की भूमिका, नई दिल्ली- राजकमल प्रकाशन, 2012

20. दूबे,श्यामचरण, परंपरा इतिहासबोध और संस्कृति, नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन, 1992

21. नारायण, बद्री, लोक संस्कृति और इतिहास, इलाहाबाद- लोकभारती प्रकाशन, 2010

22. पचौरी, सुधीश, आलोचना से आगे, राधाकृष्ण प्रकाशन, पहली आवृत्ति, 2006

23. पणिकर, के. एन.,औपनिवेशिक भारत में सांस्कृतिक और विचारात्मक संघर्ष, अनुवाद- आदित्य नारायण सिंह, ग्रन्थ शिल्पी, पुनर्मुद्रण, 2009

24. पाण्डेय, मैनेजर, शब्द और कर्म, नई दिल्ली- वाणी प्रकाशन, 1997

25. पाण्डेय, मैनेजर, साहित्य और इतिहास दृष्टि, नई दिल्ली- वाणी प्रकाशन, 2005

26. पाण्डेय, मैनेजर, आलोचना की सामाजिकता, नई दिल्ली- वाणी प्रकाशन, 2005

27. फास्टर और वुड, इतिहास के पक्ष में, अनुवाद- तरुण कुमार, दिल्ली- ग्रन्थ शिल्पी, 2007

28. नीलकांत, इतिहास-लेखन की समस्याएँ, इलाहाबाद, विभा प्रकाशन, 2015

29. मार्विक, आर्थर, इतिहास का स्वरूप, दिल्ली- ग्रन्थ शिल्पी, 2009

30. मुक्तिबोध, गजानन माधव, भारत: इतिहास और संस्कृति, राजकमल प्रकाशन, 1985

31. मुक्तिबोध, गजानन माधव, नयी कविता का आत्मसंघर्ष, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, 2007

32. लुकाच, ग्यार्ग, इतिहास और वर्ग चेतना, अनुवाद और सम्पादन-नरेश'नदीम', प्रकाशन संस्थान,2005

33. वर्मा, निर्मल, इतिहास स्मृति और आकांक्षा, नई दिल्ली, वाणी प्रकाशन, प्रताहम संस्करण 2010

34. वर्मा, निर्मल,कला का जोखिम, राजकमल प्रकाशन, तीसरा संस्करण -2001

35. वर्मा, निर्मल, शताब्दी के ढलते वर्षों में, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, 1995

36. वर्मा निर्मल, भारत और यूरोप प्रतिश्रुति के क्षेत्र,

37. वर्मा, लाल बहादुर, इतिहास : क्यों-क्या-कैसे, दिल्ली- हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, 2010

38. वर्मा, लालबहादुर, इतिहास के बारे में, इलाहाबाद, इतिहासबोध प्रकाशन, 1864

39. वार्ष्णेय, लक्ष्मीसागर, आधुनिक हिंदी साहित्य की भूमिका, इलाहबाद- लोकभारती प्रकाशन, 1971

40. शर्मा, नलिन विलोचन, साहित्य का इतिहास दर्शन, पटना- बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, विक्रमाब्द-2016

41. शर्मा, रामविलास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी आलोचना, नई दिल्ली- राजकमल प्रकाशन, 2003

42. शर्मा, रामविलास, इतिहास- दर्शन, नई दिल्ली- वाणी प्रकाशन, 1995

43. शर्मा, रामविलास, परम्परा का मूल्यांकन, नई दिल्ली- राजकमल प्रकाशन, 2005

44. शर्मा, रामविलास, भारतीय इतिहास और ऐतिहासिक भौतिकवाद, इलाहबाद- लोकभारती प्रकाशन,1992

45. शुक्ल, आचार्य रामचंद्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, इलाहाबाद- लोकभारती प्रकाशन,2009

46. सरकार, सुमित, सामाजिक इतिहास लेखन की चुनौती, दिल्ली-ग्रन्थ शिल्पी, 2010

47. सिंह, नामवर, आलोचक के मुख से, नई दिल्ली- राजकमल प्रकाशन, 2005

48. सिंह, नामवर, इतिहास और आलोचना, नई दिल्ली- राजकमल प्रकाशन, 2006

49. सिंह, नामवर, कहना न होगा, नई दिल्ली- वाणी प्रकाशन, 1995

50. सिंह नामवर, दूसरी परम्परा की खोज, नई दिल्ली- राजकमल प्रकाशन, 2003

51. सिंह, नामवर, वाद विवाद संवाद, नई दिल्ली- राजकमल प्रकाशन, 2003

52. सिंह, वैभव, इतिहास और राष्ट्रवाद, पंचकूला- आधार प्रकाशन, 2007

53. सिंह, बेदी हरमहेंद्र, हिंदी साहित्येतिहास दर्शन की भूमिका, दिल्ली-निर्मल पब्लिकेशन 2004

54. सेन, डॉ. अमर्त्य, अतीत का वर्तमान, दिल्ली- ग्रन्थ शिल्पी, 2010

55. सेन, डॉ. अमर्त्य, भारतीय अर्थतंत्र, इतिहास और संस्कृति, दिल्ली, राजपाल प्रकाशन, 2009

56. हबीब, इरफ़ान, इतिहास और विचारधारा, अनुवादक-रमेश रावत,दिल्ली- ग्रन्थ शिल्पी, 2005

57. हबीब, इरफ़ान,भारतीय इतिहास की प्रमुख व्याख्याएं, अनुवाद- ब्रिज शर्मा, दिल्ली, ग्रन्थ शिल्पी, 1999

58. हाब्सबाम, एरिक, इतिहास कार की चिंता, दिल्ली- ग्रन्थ शिल्पी, 2007

तीन: सहायक ग्रन्थ : अंग्रेजी

1. Aloyus, G: Nationalism without a nation in India, Oxford University Press, London, 1996
2. Chandra, Sudhir, The Oppressive Present, Literature And Social Consciousness In Colonial India, Oxford University Press, 1992
3. Chaterjee, Partha, Nationalist thought and the Colonial: A Derivative Discourse, Oxford University Press, New Delhi, 1995
4. Ranjit Guha : An Indian Historiography of India: A Nineteen Century Agenda And Its Implications, K. P. Bagachi and Company, Calcutta,1988

चार : पत्र-पत्रिकाएँ

1. अनुशीलन, मुकुल राज मेहता, volume-LI, मानवी सेवा समिति, 2013
2. आलोचना- अक्टूबर-दिसंबर- 1986, संपादक- नामवर सिंह, नई दिल्ली- राजकमल प्रकाशन
3. आलोचना- अप्रैल-जून- 1987, संपादक- नामवर सिंह, नई दिल्ली- राजकमल प्रकाशन
4. आलोचना- अप्रैल-जून- 2000, संपादक- परमानन्द श्रीवास्तव, नई दिल्ली- राजकमल प्रकाशन

5. आलोचना- जुलाई-दिसंबर- 2002, संपादक- परमानन्द श्रीवास्तव, नई दिल्ली- राजकमल प्रकाशन
6. आलोचना- जनवरी-मार्च- 2004, संपादक- परमानन्द श्रीवास्तव, नई दिल्ली- राजकमल प्रकाशन
7. आलोचना- जनवरी-मार्च- 2013, संपादक- अरुण कमल, नई दिल्ली- राजकमल प्रकाशन
8. परिप्रेक्ष्य, संपादक- दीपक रंजन, volume vii, निष्ठा रिसर्च फाउंडेशन बनारस,2013,
9. भाषा- मई-जून 2008
10. समसामयिक सृजन- अप्रैल- जून-2012, संपादक- महेंद्र प्रजापति
11. संधान-, अंक-5, सम्पादक- लालबहादुर वर्मा, सुभाष गाताडे, जनवरी-मार्च-2012

पांच : वेबसाइट और ब्लॉग

➢ www.googlescholar.com
➢ Insoplease.com
➢ https://hi.wikipedia.org
➢ http://khsindia.org/india
➢ http://www.newworldencyclopedia.org/entry/Historiography
➢ https://www.bharatdarshan.co.nz/blogs.html
➢ http://www.dli.ernet.in/handle
➢ shodhganga